

305

काव्य में अभिव्यंजनाविद

डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-८००००४



काव्य में अभिव्यंजनावाद

डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

प्रकाशक :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-८००००४

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पंचम संस्करण, २०००

विक्रमानन्द २०३७; शकानन्द १९०२; ख्रीष्टानन्द १९८०

मूल्य : बारह रुपये मात्र

20/-

मुद्रक :

रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स

लंगरटोली, पटना-८००००४

वक्तव्य

‘काव्य में अभिव्यंजनावाद’ का पंचम संस्करण परिपद् द्वारा पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जा रहा है। इससे पूर्व के चार संस्करण अन्य प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित हुए थे। इस ग्रन्थ के लेखक पुण्यश्लोक साहित्य-मनीषी डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु हैं। डॉ० सुधांशु हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी के छात्र थे और अपने अध्ययन-काल में इन्हें समीक्षक-मूर्धन्य प्राध्यापक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० श्यामसुन्दर दास-जैसे साहित्य-प्रकाण्ड बहुश्रुत गुरुओं का अनुग्रहपूर्ण सान्निध्य प्राप्त था। बीसवीं सदी के आरम्भिक चार दशकों में हिन्दी-साहित्य का आयाम अनेकविध प्रवृत्तिमूलक सर्जनात्मक प्रयोगों के माध्यम से सर्वथा स्वतन्त्र पथ का निर्माण कर रहा था। सर्जना की प्रक्रिया में नवीन प्रवृत्तियों, उदग्र भावनाओं और वचो-भंगिमाओं की विविध उद्भावनाएँ परिनिष्ठित हो रही थीं, नूतन वाचोयुक्तियों का प्रयोग निरन्तर प्रवहमाण था। भावों और संवेदनाओं के सम्प्रेषण के माध्यम अब नितान्त दुर्बोध और सूक्ष्म नहों रह गये थे, उनमें पर-प्रत्ययनेय बोध की दुरुहता नहीं थी। परन्तु, तब भी साहित्यश्री की समृद्ध प्रौढता को आँकने का निकपोपल समीक्षाशास्त्र सर्वथा दुर्लभ नहीं था, तो नितान्त सुलभ भी नहीं था। वैसे परिस्थिति में डॉ० सुधांशु ने महामना क्रोचे के सौन्दर्यमूलक अभिव्यंजनावाद तथा भारतीय रसवादी परम्परा की ध्वनि-सापेक्ष वक्रोक्ति को समन्वित करके इस ग्रन्थ का प्रणयन किया था। अपने उद्भवकाल के परिवेश में यह एक महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती थी। और, आज भी इसकी महत्ता आत्मनिष्ठ बनी हुई है।

डॉ० सुधांशु साहित्य के स्रष्टा, तटस्थ समीक्षक तथा प्रगति-प्रवहण के सारथि भी थे। वे राजनीति के अग्रगामी नेता एवं स्वतन्त्रता-संघर्ष के सेनानी थे। विहार-राष्ट्रभाषा-परिपद् के संस्थापक-सदस्य और राष्ट्रभाषा-एवं राजभाषा हिन्दी के आन्दोलन के अग्रगामी ध्वजवाहक-दल के शीर्षस्थ नायक थे। वे हमारे सहज सम्मान एवं आन्तरिक श्रद्धा के पात्र हैं।

आज वे हमारे बीच भौतिक विभूति के रूप में नहीं हैं, किन्तु उनकी अशरीरिणी कीर्ति तथा अक्षर कृतियों की सत्ता विद्यमान है। परिपद् के

संचालक-मण्डल ने सर्वसम्मति से यह निर्णय किया था कि अपने क्रियाशील संस्थापक-सदस्य डॉ० सुधांशु की कीर्ति को चिरजीवित रखने तथा उनके प्रति श्रद्धा-निवेदन के निमित्त उनकी कृतियों को ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित किया जाय । उसी निर्णय के अनुसार, हम प्रस्तुत ग्रन्थ 'काव्य में अभिव्यंजना-वाद' का पंचम संस्करण परिपद् की ओर से प्रस्तुत कर रहे हैं । इससे इस कृति की उपयोगिता एवं सर्वमान्यता स्वयं सिद्ध है । इसके निमित्त ध्वज-विज्ञापन की कतई आवश्यकता नहीं है । विज्ञ पाठकवर्ग एवं अनुसन्धित्सु स्नातकोत्तर छात्रगण तथा हिन्दी के अधीती प्राध्यापक इस ग्रन्थ से सर्वथा परिचित हैं । अतः, प्रयोजन-सापेक्ष अभिस्तुति की अपेक्षा ही नहीं है ।

इस प्रकार के उपस्थापन में जिन आत्मीय जनों का सहयोग हमें मिला है, उन्हें और साथ ही पुण्यश्लोक डॉ० सुधांशुजी के योग्य पुत्र तथा हिन्दी के प्राध्यापक श्रीपद्मनारायण को हम साधुवाद देते हैं ।

अपनी गुणग्राहिता के कारण अध्येतृवर्ग इस महत्त्वपूर्ण उपयोगी ग्रन्थ को हृदय से अंगीकृत करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है ।

भाद्रपद, लोलार्कषष्ठी,
सं० २०३७ वि०
१५ सितम्बर; १९८० ई०

श्रुतिदेव शास्त्री
निदेशक

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

वर्तमान सभ्यता के साथ-ही-साथ साहित्य का भी विकास हो रहा है। विकास में जहाँ अपनी मौलिक शक्ति के लिए स्थान है, वहाँ दूसरों की शक्ति को लेकर आगे बढ़ने की क्षमता भी रहती है। आधुनिक हिन्दी-काव्य पर उन सभी भाषाओं का प्रभाव पड़ा है, जिनसे हिन्दी का किसी-न-किसी तरह, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, सम्बन्ध रहा है। यह प्रभाव साहित्य के लिए स्वास्थ्यवर्द्धक है। किन्तु, अच्छी चीजों का मोल जब बाजार-भाव से होने लगता है, तब उनमें कुछ मिलावट भी आ जाती है। हिन्दी-काव्य में भी जब अनुकरण-प्रियता बढ़ने लगी, तब कविगण भाषा की शक्ति से कभी-कभी अधिक काम लेने लगे। परिणाम-स्वरूप वह दुर्लभता आई, जिसके चलते वर्तमान काव्य बहुत-कुछ बदनाम है।

इटली के प्रसिद्ध लेखक बेनेडेटो क्रोचे (Benedetto Croce) ने सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetics) पर एक पुस्तक लिखी है। आरम्भ में मैंने क्रोचे के सौन्दर्य-विषयक कुछ सिद्धान्तों की विवेचना की है। विवेचना करते समय मेरा ध्यान बराबर अपनी भाषा तथा विचार की सांस्कृतिक विशेषता की ओर रहा है। क्रोचे के सिद्धान्तों में जो बातें भारतीयता के निकट प्रतीत हुईं, उनपर मैंने अधिक ध्यान रखने की कोशिश की है। किन्तु, अपनी भाषा तथा विचार की सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण, क्रोचे के सिद्धान्त की चर्चा करने की जहाँ गुंजाइश न थी, वहाँ मैंने उसे छोड़ दिया है। हिन्दी-काव्य की जो वर्तमान प्रगति है, उसी पर मैंने दो शब्द कहने का साहस किया है।

इस पुस्तक के प्रणयन के पहले, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष आदरणीय रायबहादुर श्यामसुन्दर दास ने मुझसे परामर्श के रूप में कहा था कि इस विषय पर निबन्ध की तरह पुस्तक न लिखी जाय। विषय की गम्भीरता पर ध्यान रखते हुए

इसका वैज्ञानिक वर्गीकरण होना चाहिए। इस परामर्श की तथ्यता पर विचार कर मैंने काव्य के सिद्धान्तों तथा प्रवृत्तियों को अध्यायों में विभक्त कर दिया है। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्रधान सुहृद् प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल, एम० ए० ने भी मुझे इस सम्बन्ध में कुछ परामर्श दिये, किन्तु पुस्तक का अधिकांश छप जाने के कारण सुकुलजी के परामर्शों पर विचार करने का मुझे अवसर नहीं मिला। मुझे विश्वास है, मैं उनके परामर्शों से बहुत दूर नहीं हूँ।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे अंगरेजी, हिन्दी तथा संस्कृत की कई पुस्तकों से सहायता मिली है। अतएव, उन सबके ग्रन्थकारों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मुझे परम श्रद्धास्पद पं० रामचन्द्र शुक्लजी से इस सम्बन्ध में बड़ी प्रेरणा मिली है। कहीं-कहीं प्रसंगवश मैंने क्रोचे तथा शुक्लजी के विचारों की तुलनात्मक विवेचना की है। क्रोचे की चर्चा इस पुस्तक के प्रायः पूर्वार्द्ध तक ही है। भारतीय समालोचक होने के कारण शुक्लजी ने अपनी रचनाओं में आधुनिक हिन्दी-काव्य की अनेक प्रवृत्तियों के संकेत दिये हैं। इसी कारण उनके विचारों की चर्चा बहुत बार हुई है। दुर्भाग्यवश दो-एक स्थल ऐसे भी आये हैं, जहाँ मुझे श्रद्धेय शुक्लजी से मत-भिन्न होना पड़ा है। इस मतान्तर के कारण उनके प्रति आदर में कोई कमी नहीं आई है। आदरणीय शुक्लजी से मुझे जो कुछ सहायता मिली है, वह मुझपर उनकी कृपा के कारण ही।

इस पुस्तक का छपना पिछले साल ही शुरू हुआ था, पर कई कारणों से, जिनमें आलस्य भी एक है, आज से पहले यह छपकर प्रकाशित न हो सकी। पुस्तक के पिछले कुछ अध्यायों की प्रेस-कॉपी तथा नाम-सूची तैयार करने में मेरे एक छात्र श्रीगोविन्दप्रसाद झा ने मदद की है, एतदर्थ उन्हें धन्यवाद है।

देवघर,
मेष-संक्रान्ति, सं० १९९३

}

—सुधांशु

भूमिका

(द्वितीय संस्करण)

‘काव्य में अभिव्यंजनावाद’ का यह दूसरा संस्करण पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। प्रथम संस्करण की प्रतियाँ कुछ दिन पहले ही शेष हो गई थीं और इसके द्वितीय संस्करण की आवश्यकता का अनुभव भी किया जाता था। किन्तु, आज से पहले वह अवसर नहीं आया और कागज की महँगी के जमाने में भी प्रकाशक को इसके द्वितीय संस्करण को प्रकाशित करने की व्यवस्था करनी पड़ी।

काव्य-समीक्षा से अभिरुचि रखनेवाले पाठकों ने इसे विशेष रूप से पसन्द किया है, यह मेरे श्रम की सार्थकता है। दो-तीन वर्ष हुए, काँटन कलिज, गुवाहाटी (असम) के प्रोफेसर विरंचिकुमार बरुआ, एम० ए०, ने इस पुस्तक का असमिया भाषा में अनुवाद कर उस क्षेत्र में इसके प्रचार में योग दिया है।

प्रकाशक की इच्छा थी कि मेरे लिए यदि सम्भव हो, तो प्रकाशित होने के पूर्व परिवर्तन-परिवर्द्धन की दृष्टि से मैं एक बार इस पुस्तक को देख जाऊँ। कुछ मित्रों के परामर्श भी मिले। मैं स्वयं इसको परिवर्द्धित करने की इच्छा रखता था, किन्तु जब इसके द्वितीय मुद्रण का अवसर आया, तब मैं लाचार रहा। मेरे पास पर्याप्त समय है, परन्तु उसके उपयोग की सुविधा नहीं। इसी कारण पुस्तक में दो-तीन स्थलों के अतिरिक्त विशेष परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं हो सके। हिन्दी-कविता की अत्याधुनिक प्रवृत्तियों का भी कुछ विशद विश्लेषण हो सकता, तो अच्छा था। फिर भी, इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विगत पाँच-छह वर्षों में हिन्दी-कविता में किसी ऐसी प्रवृत्ति का जन्म नहीं हुआ, जिसकी चर्चा पहले न की गई हो। मेरे सचेष्ट रहने पर भी जो त्रटियाँ रह गई हों, उनके लिए पाठक मुझे क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है।

सेण्ट्रल जेल, भागलपुर
पौष कृष्ण १४, सं० २००० वि०

}

—सुधांशु

भूमिका

(तृतीय संस्करण)

‘काव्य में अभिव्यंजनावाद’ का यह तीसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। कृपालु पाठकों ने इस पुस्तक के प्रति जो रुचि दिखाई है, वह मेरे लिए सन्तोष की बात है। हिन्दी-साहित्य में अब अनेकानेक गम्भीर समीक्षात्मक ग्रन्थ प्रकाशित होने लगे हैं और पाठकों की अभिरुचि भी इस दिशा में प्रदर्शित होने लगी है। साहित्य के विकास तथा उसके मानदण्ड को ऊपर उठाने के लिए यह स्थिति बहुत अनुकूल मानी जा सकती है।

इस पुस्तक में यत्न-तत्त्व कुछ आवश्यक संशोधन-परिवर्द्धन किये गये हैं, किन्तु इसके मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। इसका कारण भी है। पिछले दशक में हिन्दी-कविता की धारा में कोई ऐसा उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ, जिसकी समीक्षा यहाँ आवश्यक समझी जाती। यों तो प्रत्येक कवि प्रतिदिन जो रचना करता है, उसमें भी कुछ-न-कुछ प्रगति अवश्य रहती है, पर इतिहास उसी का लेखा रखता है, जो परिवर्तन से उत्पन्न होता है। पिछले दशक में मुक्तक गीति-काव्य की बहुत रचनाएँ हुईं। किन्तु, उसके स्वरूप के अतिरिक्त तत्त्व में कोई विशेष अन्तर परिलक्षित नहीं हुआ। गीति-काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में मैंने अपने ‘जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त’ ग्रन्थ में सविस्तर विवेचन कर दिया है। अतः, इस पुस्तक में भी उसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं समझी गई।

इस बार इस पुस्तक का यह संस्करण ‘जनवाणी-प्रकाशन’ की ओर से प्रकाशित हो रहा है। जिस उत्साह तथा आग्रह से इस संस्था ने अपना कार्यारम्भ किया है, उसकी मैं प्रशंसा करता हूँ और उसके शुभ प्रयत्न की सफलता चाहता हूँ।

पटना

रामनवमी, सं० २००७

—लक्ष्मीनारायण सुधांशु

दो शब्द

(चतुर्थ संस्करण)

‘काव्य में अभिव्यंजनावाद’ का यह चतुर्थ संस्करण आपके सामने प्रस्तुत है । डॉ० रामखेलावन पाण्डेय, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, राँची कॉलेज, राँची ने कुछ सुझाव दिये थे । मैंने उन सुझावों में से कुछ के अनुसार जहाँ-तहाँ परिवर्द्धन किये, किन्तु समयाभाव के कारण उनके सब सुझावों को कार्यान्वित नहीं कर सका ।

मैंने यह चेष्टा की कि इस पुस्तक को अधिक-से-अधिक अद्यतन बना दिया जाय । इसी कारण संस्कृत-साहित्यशास्त्र के परिचय तथा उपसंहार को कुछ परिवर्द्धित कर दिया गया है । दूसरे अध्यायों में इसकी गुंजाइश मुझे कम मालूम पड़ी, अतः परिवर्तन भी कम ही किये गये ।

ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना के संचालक मेरे धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने कागज की मँहगी में भी ‘काव्य में अभिव्यंजनावाद’ के इस चतुर्थ संस्करण को उत्साहपूर्वक प्रकाशित किया है ।

दीपावली
संवत् २०१६ वि० }

—सुधांशु

THE END

(THE END OF THE WORLD)

There is a great deal of talk about the end of the world, and it is not surprising that many people are anxious to know what will happen. The Bible tells us that the world will be destroyed by fire, and that the righteous will be saved. This is a very important message, and it is one that we should all take to heart.

The Bible also tells us that the world will be destroyed by fire, and that the righteous will be saved. This is a very important message, and it is one that we should all take to heart. The Bible tells us that the world will be destroyed by fire, and that the righteous will be saved. This is a very important message, and it is one that we should all take to heart.

The Bible also tells us that the world will be destroyed by fire, and that the righteous will be saved. This is a very important message, and it is one that we should all take to heart. The Bible tells us that the world will be destroyed by fire, and that the righteous will be saved. This is a very important message, and it is one that we should all take to heart.

ying—

THE END

विषय-सूची

क्रम-संख्या

पृष्ठ-संख्या

१. संस्कृत-साहित्यशास्त्र का परिचय १-२२

प्रस्तावना—रस—गुण—दोष—अलंकार—रीति—ध्वनि—
वक्रोक्ति ।

२. सहजानुभूति का तत्त्व (पहला अध्याय) २५-४३

प्राक्कथन—क्रोचे के मतानुसार ज्ञान के दो खण्ड—लॉक के मतानुसार ज्ञान के दो भेद—वर्कले और वेकन के विचार—अरिस्टॉटल के अनुयायियों का मत—सीमा और काल की निरपेक्षता—डेकार्टे के अनुसार इन्द्रिय-ज्ञान का सापेक्ष—बुद्धि-तत्त्व और इन्द्रिय-ज्ञान—ज्ञानेन्द्रियों के पाँच से अधिक धर्म नहीं—ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञाता नहीं कहलाती—मन और बुद्धि के कार्य—सहजानुभूति : कला का बोध-पक्ष—उदाहरण—सहजानुभूति और विचार का प्रकृति-भेद—विम्ब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण—वास्तविक तथा काल्पनिक सहजानुभूति—सहजानुभूति और विचार का समन्वय—उदाहरण—सहजानुभूति की विशेषता—सहजानुभूति और सैद्धान्तिक उक्तियाँ—अनुभव के लिए सहजानुभूति की अपेक्षा—सहजानुभूति की तीन प्रक्रियाएँ—वस्तु का महत्त्व—आवृत्ति की विशेषता—वस्तु और आकृति का अन्तर—भाव-पक्ष और कल्पना-पक्ष—आचार्य शुक्ल के विचार—स्वप्न का रहस्य—सहजानुभूति और स्वप्न में भेद—स्वप्न का मनोवैज्ञानिक प्रभाव—सहजानुभूति और अनुभूतिवाद—स्वप्नगत वैचित्र्य के कारण—स्वप्न और कला—आध्यात्मिक सत्ता का कला में समन्वय न करने का परिणाम—काव्य में गणित का संयोग—सहजानुभूति और इन्द्रिय-बोध तथा संवेदन—सहजानुभूति और

अभिव्यंजना की एकात्मता—सहजानुभूति के लिए यथार्थ और अयथार्थ का आधार ।

३. अभिव्यंजना और कला (दूसरा अध्याय) ४४—६५

प्रभाव की अभिव्यक्ति—अभिव्यक्ति और मानव-प्रकृति—
सत्यासत्य का भेद—प्राकृत सत्य और काव्यगत सत्य—काव्यगत
सत्य की प्रकृति—काव्यगत सत्य का औचित्य—कला प्रकृति
की अनुकृति है : समीक्षा—‘कला कला के लिए’ : समीक्षा—
कवीन्द्र रवीन्द्र का विचार—कला का लक्ष्य—ब्रेडले का
विचार—रिचर्ड्स का विचार—कला में द्वित्व की भावना :
समीक्षा—कला और सहजानुभूति : समीक्षा—कला-निर्माण
में चेतनता-अचेतनता की स्थिति—कला-निर्माण के दो भेद—
स्वतःप्रसूत कला—छोटे-छोटे भाव-खण्डों के आधार पर काव्य-
निर्माण—संवेदना और कला—पशु और मनुष्य का भेद—
अभिव्यंजना में अभिनय का योग—आचार्य शुक्ल के विचार :
समीक्षा—अभिव्यंजनावान्त में भाव-व्यंजना तथा वस्तु-व्यंजना—
अभिव्यंजनावान्त में अनुभूति, प्रभाव और वाग्वैचित्र्य का स्थान—
अभिव्यंजनावान्त और वक्रोक्तिवाद—मानव का चरित्र-निर्माण—
अनुभव और निर्णय—प्रभाववादी समीक्षा की समीक्षा—
वस्तु और विधान-विधि का महत्त्व—रचना-नैपुण्य का महत्त्व—
कलाकार के व्यक्तित्व की अपूर्ण अभिव्यक्ति ।

४. रसानुभूति का तत्त्व (तीसरा अध्याय) ६६—८७

सौन्दर्य और आनन्द—सौन्दर्य में निजत्व—काव्यानुभूति और
साधारणीकरण—काव्यानुभूति और रसानुभूति—काव्य में
जातीयता—संस्कार का आवरण—संस्कार और रसानुभूति—
सद्गुण का महत्त्व—रसानुभूति के अयोग्य कथानक—प्रकृति-
वैचित्र्य और आलम्बनत्व-धर्म—काव्यगत पात्र के साथ
तादात्म्य—बाह्य और काव्यगत प्रभाव—चित्त-वृत्ति और
अनुकम्पा—रस-व्याघात का परिणाम—तादात्म्य और शील-
दर्शन—धर्म और पाप के चित्रण का परिणाम—प्राकृत और
अतिप्राकृत—न्याय और दया—करुणा और घृणा की

अनुभूति—उपर्युक्त भावों का विवेचन—पहला पक्ष—दूसरा पक्ष—दोनों पक्षों का विवेचन—तात्कालिक रसानुभूति—भाव और विचार—अन्तर्वृत्ति का सौन्दर्य—अति प्राकृत सौन्दर्य और रसानुभूति—वैचित्र्य का साक्षात्कार—आश्चर्यपूर्ण प्रसादन—आश्चर्यपूर्ण अवसादन—कुतूहल—रसानुभूति के स्वरूप—व्यक्ताव्यक्त भाव—भाव-संकेत—भाव-विश्लेषण—रस का प्रयोजन और उनके नवीन ढंग से विवेचन की आवश्यकता ।

५. अलंकार और प्रभाव (चौथा अध्याय) ८८—११५

प्राक्कथन—अलंकार का उद्देश्य—क्रोचे और अलंकार—भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अलंकार का प्रवेश—उक्ति और अलंकार—भाव के क्षेत्र में अलंकार—न्याय तथा दर्शन के क्षेत्र में अलंकार—वाणी के क्षेत्र में अलंकार—क्रिया के क्षेत्र में अलंकार—व्याकरण के क्षेत्र में अलंकार—शब्दाभाव पर स्थित अलंकार—अलंकारों का निरूपण—अलंकार का प्रयोजन—प्रेषणीयता में अलंकारत्व—अन्योक्ति—वाच्यार्थ में अलंकार—सादृश्य और साधर्म्य—प्रभाव—साधर्म्य का आंशिक आधार—सादृश्य का अभाव—प्रस्तुत की अवहेलना—व्यंग्य-रूपक—अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना—व्यंग्य-व्यंजक भाव—ध्वनि में अलंकार—कल्पना और अनुभूति—अलंकारों की प्रभावहीनता—उपमा की दो विशेषताएँ ।

६. प्रतीक और उपमान (पाँचवाँ अध्याय) ११६—१२३

ज्ञान-क्षेत्र में भाव-प्रसार—प्रतीक और उसके दो भेद—प्रतीक की उद्भावना के रहस्य—प्रतीक और उसकी विशेषताएँ—प्रतीक और उपमान—प्रतीक-स्वरूप उपमान—अन्योक्ति में प्रतीकत्व—लाक्षणिक प्रतीक—लाक्षणिक प्रतीक और शुद्ध प्रतीक—प्राचीन उपमानों की रस-बाधकता ।

७. अमूर्त का मूर्त-विधान (छठा अध्याय) १२४—१३०

लाक्षणिक प्रयोग की विशेषता—लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का कारण—लक्षणा पर लक्षणा—लाक्षणिक प्रवृत्ति का विकास—सूक्ष्म का मूर्त—धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग ।

६. मूर्त का अमूर्त-विधान (सातवाँ अध्याय) १३१—१३५

मूर्त तथा अमूर्त का विवेचन—मूर्त का अमूर्त-विधान—धर्मों
के लिए धर्म का प्रयोग ।

६. अभिव्यंजना की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ (आठवाँ अध्याय)

.... १३६—१४१

विशेषण-विपर्यय का मूल—उदाहरण—अंग में भावपूर्ण
विशेषण—अंग से अंगी का बोध ।

१०. उपसंहार (नवाँ अध्याय)

.... १४२—१५०

हिन्दी की लाक्षणिक विशेषता—वाच्यार्थ में काव्यत्व—
साहित्य का अभाव—भाव-व्यंजना और रूप-व्यंजना—
साकेत, कामायनी और कुरुक्षेत्र—साहित्यिक वाद की आयु—
आधुनिक या नई कविता—नई कविता का नेतृत्व—
साहित्यिक वाद और गति—प्रयोगवाद और रूढ़ि—कविता
की क्षमता-सापेक्षता—कविता में काल तथा गुण-धर्म—
नई कविता में प्रतीक ।

शब्दानुक्रमणी

.... १५१—१६०

काव्य में अभिव्यंजनावाद

सिंहपुरा ५ नं०

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का परिचय

अभिव्यंजनावाद के निर्धारण और उसके समीक्षण के पहले यह बहुत आवश्यक प्रतीत होता है कि संक्षिप्त रूप से संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का परिचय दिया जाय। इससे यह पता चलेगा कि संस्कृत में साहित्य-शास्त्र प्राक्कथन के कितने सिद्धान्त हैं और उनसे अभिव्यंजनावाद की कितनी समता या विपमता है। अभिव्यंजनावाद पश्चिमीय साहित्य-जगत् की उपज है, किसी भारतीय साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्त से इसका पूरा-पूरा मेल नहीं है। ध्वनि और वक्रोक्ति से इसकी थोड़ी-सी समता है, किन्तु यह समता स्वतन्त्र रूप से आई है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्त बहुत पुराने हैं और यूरोप के साहित्य का अभिव्यंजनावाद अभी कल की बात है। भाव-प्रकाशन की शैली और क्षमता, प्रत्येक देश या जाति की क्या, हर एक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न होती हैं। यूरोपीय अभिव्यंजनावाद की जो छाया हिन्दी-काव्य-जगत् पर पड़ी है वह सर्वथा विशुद्ध नहीं। उसपर भारतीय साहित्य का संस्कार वर्तमान है। रस और अलंकार का जितना सूक्ष्म निरीक्षण हमारे साहित्य में है उतना यूरोपीय साहित्य में कहाँ मिलता है ! भारतीय दृष्टिकोण से अभिव्यंजनावाद की समीक्षा के लिए यहाँ के साहित्य-सिद्धान्तों का परिचय आवश्यक जान पड़ता है।

संस्कृत में साहित्य-शास्त्र पर बड़ी सूक्ष्मता तथा गम्भीरता के साथ विचार-विवेचन किया गया है। भारतीय दर्शन की तरह भारतीय साहित्य-शास्त्र या काव्य-शास्त्र में भी विचारों का खण्डन-मण्डन है। नवीन मत-स्थापन की भावना भी बहुत व्यापक रूप से प्रचलित साहित्य-शास्त्र या रही है। प्रायः प्रत्येक लब्धप्रतिष्ठ आचार्य ने अपने नाट्यशास्त्र के आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का विश्लेषण, प्रतिपादन, आचार्य भरत खण्डन और अपने मत का स्थापन किया है।

इस परिपाटी से काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों पर एक अच्छा-सा साहित्य तैयार हो गया है। भरत के पूर्व किसी आचार्य का

कोई काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। भरत ने अपने पूर्ववर्त्ती कुछ आचार्यों के नाम का उल्लेख-मात्र किया है और वह भी अपने मत के समर्थन के रूप में। भरतकाव्यशास्त्र—नाट्यशास्त्र—के मूल आचार्य माने जाते हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में रस आदि की जो स्थापनाएँ कीं, वे आगे चलकर समस्त काव्य-शास्त्र—दृश्य तथा श्रव्य काव्य—में समाहित की गईं। अग्निपुराण में काव्य-शास्त्र पर काफी विवेचन किया गया है, किन्तु इसमें पुराणों के सामान्य प्रणेता महामुनि व्यास के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य का नामोल्लेख नहीं है। अग्निपुराण के रचना-काल के बारे में भी बहुत मतभेद है। बहुमत अग्निपुराण को भरत का परवर्त्ती ही प्रतिपादित करता है।

भरत के नाट्यशास्त्र के उपरान्त जिन परवर्त्ती आचार्यों ने साहित्य-शास्त्र पर अपने ग्रन्थों की रचना की है, उनकी तालिका छोटी नहीं है। फिर भी, जो अधिक प्रभावशाली माने गये उनके ये ग्रन्थ—
साहित्य-शास्त्र भामह का काव्यालंकार, दण्डी का काव्यादर्श, उद्भट का
 के अलंकार-सार-संग्रह, वामन का अलंकार-सूत्र, रुद्रट का
 अनेक आचार्य काव्यालंकार, आनन्दवर्द्धन का ध्वन्यालोक, राजशेखर की
 काव्यमीमांसा, कुन्तक का वक्रोक्तिजीवितम्, धनंजय का
 दशरूपक, मम्मट का काव्य-प्रकाश, रुय्यक का अलंकार-सर्वस्व, भोज का
 सरस्वती-कण्ठाभरण, जयदेव का चन्द्रालोक, विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण,
 भानुदत्त की रस-मंजरी और पण्डितराज जगन्नाथ का रस-गंगाधर आदि—
 प्रमुख हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि साहित्य-शास्त्र के आचार्य तो अनेकानेक हुए, किन्तु उनके प्रतिपाद्य विषय सीमित ही रहे। साहित्य-शास्त्र के
साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की दृष्टि से मुख्यतः रस, अलंकार, रीति,
मुख्य सिद्धान्त गुण, वक्रोक्ति तथा ध्वनि ही विभिन्न आचार्यों के
 विवेचनीय विषय थे।

रस

सर्वसम्मति से भरत रस के आदि आचार्य माने जाते हैं, किन्तु राजशेखर ने इस सम्बन्ध में किसी नन्दकेश्वर का उल्लेख किया है और स्वयं

भरत ने भी अपने पूर्ववर्ती कुछ आर्या तथा अनुष्टुप छन्दों के उदाहरण देकर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि रस-परम्परा पहले से चली आ रही है। भरत का ग्रन्थ नाट्यशास्त्र पर है रस-परम्परा और उन्होंने रसों का विवेचन रूपक के लिए ही किया है। और भरत परन्तु, परवर्ती आचार्यों ने रसों को श्रव्य काव्य के भी उपयुक्त समझकर उनकी मीमांसा की। भरत ने शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स—चार प्रधान और हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक—चार उनसे उद्भूत, कुल आठ रसों की अवस्थिति स्वीकृत की। रस की निष्पत्ति के लिए—‘विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः’—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग को अनिवार्य बताया।

आठ रसों के आठ स्थायी भाव होते हैं, जो आरम्भ से अन्त तक हृदय की वृत्तियों के रूप में स्थित रहते हैं। शृंगार का रति, हास्य का हास, करुण का शोक, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, रस-सिद्धान्त का भयानक का भय, वीभत्स का जुगुप्सा, और अद्भुत का अंगोपांग विस्मय स्थायी भाव हैं। विभाव दो प्रकार के हैं; आलम्बन विभाव के आधार पर भाव जागरित तथा उद्दीपन विभाव से उत्तेजित होते हैं। जिन शारीरिक चेष्टाओं, क्रियाओं तथा विकृतियों से आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति हो, उन्हें अनुभाव कहते हैं। वाणी, अंग तथा सत्त्व द्वारा सम्पादित, नानार्थों से निष्पन्न अभिनय को ये अनुभावित करते हैं, इसी कारण ये अनुभाव हैं। स्थायी भावों के अतिरिक्त हमारी रसानुभूति में अन्य जो भाव सहायक होकर आते-जाते हैं, वे संचारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। व्यभिचारी भावों की संख्या तैत्तिरीय है। वे ये हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, घृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विपाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क।

भरत के अनुसार रस भावहीन नहीं होता और भाव रसहीन नहीं भरत : आदि- हुआ करता। अभिनय में उसकी परस्पर सिद्धि होती है। आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रस का सांगोपांग वर्णन किया है। परवर्ती काल में रस के सम्बन्ध में जो अनेक मत-मतान्तर तथा

सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये गये, उन सबका मूल आधार भरत का नाट्यशास्त्र ही है।

भामह ने काव्य के लिए अलंकार या वक्रोक्ति को ही प्रधानता दी। रस के विषय में उन्होंने इतना अवश्य कहा है कि काव्य में सब रसों का पृथक् निरूपण होना चाहिए। काव्य के माहात्म्य-वर्णन से भामह और रस भी उनके रस-सम्बन्धी विचार का पता चलता है। उनका कथन है—‘स्वादु काव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुज्यते’—स्वादिष्ट काव्य के रस से युक्त शास्त्र का भी उपयोग किया जाता है, पहले लोग शहद चाटकर पीछे कड़वी दवा पीते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि शास्त्र नीरस होता है, उसमें काव्यत्व के निरूपण से सरसता आती है। इससे इतना स्पष्ट है कि भामह रस के महत्त्व को समझते थे, किन्तु उनकी दृष्टि इसपर अधिक जमी नहीं।

दण्डी ने भी रस पर बहुत ध्यान नहीं दिया, किन्तु भामह की अपेक्षा उन्होंने इस ओर अपनी अधिक रुचि प्रदर्शित की। काव्य के वर्णन के क्रम में उन्होंने कहा है—‘अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्’—कि काव्य विभिन्न वृत्तान्तों से सुशोभित तथा सविस्तर वर्णन द्वारा हृदयंगम दण्डी और रस होना चाहिए। इसमें रस और भाव की निरन्तर स्थिति होनी चाहिए। दण्डी ने भरत द्वारा निरूपित आठों रसों तथा उनके स्थायी भावों का विवेचन किया है, पर यह विवेचन रस का स्वतन्त्र विवेचन नहीं माना जा सकता। उनके विचार से वाक्य और वस्तु—शब्द और अर्थ—में रस की स्थिति होती है और माधुर्यगुण रसयुक्त काव्य ही है। रस के द्वारा उत्पन्न आनन्द देनेवाले भाव के कथन को रसवत् अलंकार कहते हैं। इस प्रकार दण्डी ने रस के महत्त्व को स्वीकार तो किया, पर उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी। गुण और अलंकार में ही रस को पर्यवसित कर दिया।

वामन रसों के पहुँचे हुए विकास को लेकर आगे बढ़े, पर जमे नहीं। इतना उन्होंने अवश्य किया कि रस को काव्य का नित्य गुण माना, अर्थगुण-कान्ति में रस की दीप्तिमयी अवस्थिति को अनिवार्य वामन और रस बताया। इस बात का संकेत भरत की कान्ति-गुण की परिभाषा में तो है ही, उदारता-गुण के विवेचन से भी बहुत-कुछ इसका

समर्थन हो सकता है । भामह और दण्डी से वामन ने इतनी ही विशेषता पहुँचाई कि उन दोनों की भाँति काव्य में रसों को अनित्य और निवार्य नहीं माना ।

उद्भट ने भरत के आठ रसों के प्रति विशेष सहृदयता दिखाई और स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के वर्णन उनके अनुसार ही किये । इस सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उद्भट ने आठ रसों के अतिरिक्त शान्त रस का भी प्रतिपादन किया । शान्त उद्भट और रस रस की उद्भावना का समस्त श्रेय यद्यपि उद्भट को नहीं दिया जा सकता, तथापि इस रस के प्रथम प्रतिपादन का गौरव उन्हें देना ही पड़ेगा । कुछ लोग यह मानते हैं कि उद्भट ने रस को काव्य की आत्मा कहा है । परन्तु ऐसी बात नहीं है । ध्वनिकार के पहले जितने रस-विवेचक हुए, सबकी दृष्टि में रस केवल अलंकार और रीति को उत्कर्ष पहुँचानेवाला साधन-मात्र ही रहा है । रस को काव्यवस्तु से अभिन्न मानने को वे तैयार नहीं हुए । तदनुसार उद्भट ने भी रस का स्वतन्त्र विवेचन न कर अलंकार को रसवत् बनाने का ध्येय ही अपने सम्मुख रखा ।

रुद्रट ने भरत के आठ रसों में शान्त और प्रेयस् जोड़कर उनकी संख्या दस बना दी । उन्होंने साहित्य-शास्त्र में रस को स्थान दिया है, परन्तु रस को काव्य का तत्त्व मानने के सिद्धान्त के सम्बन्ध में वे रुद्रट और रस मौन रहे । सिद्धान्तिक रूप से वे अलंकारवादी थे । सरस काव्य को उत्कृष्ट बताने पर भी वे रस को अलंकार से अधिक महत्त्व देने की उदारता न दिखा सके । भरत के समय से, रस से, केवल नाट्य-रस का ही बोध होता था । धीरे-धीरे इसी अनुकरण पर काव्य-रस की सृष्टि भी हुई; लेकिन उसकी आत्मा पर अलंकार का बोझ पड़ा ही रहा ।

आनन्दवर्द्धन रस-सिद्धान्त के बड़े पोषक रहे हैं । काव्य में ध्वनि की प्रमुखता मानने पर भी रस के आधार को उन्होंने काव्य में आवश्यक बताया । अभिनेयार्थ काव्य में तो उनके विचार से सर्वथा रस-योजना पर आनन्दवर्द्धन पूरा बल देना चाहिए । प्रधान रूप से प्रकाशित होनेवाला और रस व्यंग्य अर्थ ध्वनि की आत्मा है । यह अर्थ कभी असंलक्ष्य क्रम से और कभी संलक्ष्य क्रम से प्रकाशित होता है । रसादि-रूप अर्थ वाच्य के साथ ही प्रतीत होता है और वह प्रधान रूप से प्रतीत होने पर

ध्वनि की आत्मा है। रस-प्रधान काव्य को उन्होंने श्रेष्ठ माना है। रस की प्रकृति के अनुसार उन्होंने औचित्य पर बहुत जोर दिया है। इतना ही नहीं, ऐतिहासिक कथावस्तु के आधार पर काव्य-रचना के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि रस की मर्यादा की रक्षा के लिए रस-विरोधी कथा-भाग को छोड़कर कवि को स्वतन्त्रता से काम लेना चाहिए। उनके विचार से अनौचित्य के अतिरिक्त रस-भंग का और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है।

रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्यों में बहुत मतभेद रहा है। संयोग और निष्पत्ति से भरत का क्या अभिप्राय था, इसकी व्याख्या रस-निष्पत्ति के लिए अनेक सिद्धान्त खड़े किये गये। भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद, शंक्रक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद, सिद्धान्त अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद आदि कई सिद्धान्त रस के विवेचन के लिए स्थिर हुए। उस समय से अबतक रस का विवेचन स्वतन्त्र रूप से हो रहा है। इस विवेचन में शान्त रस भी सम्मिलित कर लिया गया है।

रस-विवेचन में पहले के जितने सिद्धान्त थे, उनकी अपूर्णता और एकांगिता की आलोचना कर अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने मत की विशेषता की ओर आचार्यों का ध्यान आकर्षित किया। भट्टनायक के रस-सिद्धान्त पर विचार करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि रसास्वादन के लिए अभिनवगुप्त भावकत्व और भोगीकरण—दो शक्तियों—की आवश्यकता नहीं। रस-व्यंजना और उसके परिणाम-आस्वाद में ही दोनों रस-विवेचन शक्तियाँ निहित हैं। भरत की उक्ति—‘काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः’—में सब भावों का भावकत्व छिपा हुआ है। इसके बाद वे भोग या भोगीकरण की ओर मुड़ते हैं। उनके मतानुसार रस की प्रतीति के अनन्तर ऐसी कोई मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है, जिसे भोग की संज्ञा दी जा सके। उनकी समझ में भोग से भट्टनायक का तात्पर्य स्थायी भाव पर निर्भर रहनेवाले रस का आस्वाद ही है, जिसकी प्रतीति व्यंजना से हो जाती है। अतः, यह स्वाभाविक है कि उस प्रतीति को व्यंजना में ही सम्मिलित कर लिया जाय। उन्होंने अभिव्यक्ति से ही रस की प्रतीति बताई है। अभिव्यक्ति रस की नहीं होती, बल्कि उसके आस्वाद की। इसी प्रकार उन्होंने

यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य के हृदय में वासना-रूप से स्थायी भाव निहित रहता है, किसी लौकिक कारण से (जिसे रस में विभाव कहते हैं) वह संस्काररूप भाव उद्दीप्त हो जाता है। दार्शनिक मत से यह बात सत्य ही है कि मनुष्य की आत्मा पर संस्कार का प्रभुत्व रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान से भी यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि मनुष्य की समस्त क्रियाएँ हृदय-स्थित भावों के अनुकूल ही होती हैं। भावों का ही स्थायी और विकसित रूप रस है।

इस प्रकार के रसास्वादन के लिए अभिनवगुप्त ने व्यञ्जना-प्रणाली को ही उपयुक्त माना है। मिछले आचार्यों ने यह दिखलाया है कि व्यञ्जना की व्याप्ति

अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा, प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मरण जगन्नाथ पण्डितराज आदि में नहीं है। इसी अभिव्यक्तिवाद को जगन्नाथ और पण्डितराज ने 'भग्नावरणा चित्' से अनुमोदित किया है।

रस-संस्कार चित् पर अविद्या का जो आवरण पड़ा हुआ है, उसको हटाने से ही रस का आस्वादन किया जा सकता है। रस कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो कहीं बाहर से लाई गई हो। वैदान्तिक मोक्ष के विषय में जैसी धारणा है वैसी ही रस के सम्बन्ध में भी मानी जाती है। आत्मा को ब्रह्म मानना कोई नई बात नहीं है। आत्मा पर पड़े हुए अविज्ञावरण को हटाने पर जो संस्कार जागरित हो उठता है, उसी से रसास्वादन की रुचि व्यंजित होती है। इसीलिए रसास्वादन को ब्रह्मानन्दसहोदर या ब्रह्मास्वादन कहा गया है।

रसास्वादन इसी प्रकार मनुष्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सम्बन्ध रखता है। बिना सत्त्वगुण की प्रधानता से रसानुभूति नहीं हो सकती। चित्त

पर जबतक रजस् और तमस् के विकार बने रहेंगे, तबतक रसास्वादन अस्वच्छ दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब की तरह रस का स्वरूप

और स्पष्ट नहीं होगा। राजसी वृत्तिवाले शृंगार-रस का और त्रिगुणात्मिका तामसिक वृत्तिवाले रौद्र रस का भी अनुभव बिना सत्त्वगुण की प्रकृति प्रधानता से नहीं कर सकते। रजस् और तमस् पर जब सत्त्व

का प्रभाव जम जाता है तब अन्तःकरण में ज्ञान का उन्मेष होता है, सत्य का परिचय होने लगता है और चित्तवृत्ति शान्त हो जाती है।

जस समय यह न समझना चाहिए कि शरीर में रजस् और तमस् का बिलकुल

अभाव ही हो गया है, बल्कि सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण वे दब-से जाते हैं। यदि सत्त्व के बदले रजस् प्रबल हो जाय तो अन्तःकरण में वासना जागरित हो जाती है, लालसा बढ़ने लगती है और हम अनेक कामों में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी प्रकार तमस् की प्रबलता पर निद्रा, आलस्य, स्मृतिभ्रंश, क्रोध आदि उत्पन्न होते हैं। इन अवस्थाओं में रसास्वादन या रसानुभूति नहीं हो सकती। रस-माल की अनुभूति के लिए सत्त्वगुण-प्रधान हृदय की आवश्यकता है।

गुण-दोष

रस को स्पष्ट और व्यञ्जक बनाने के लिए गुणों का विधान किया गया है। भरत ने गुणों के दस भेद किये हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि। दण्डी ने भी प्रायः इसी प्रकार गुणों का विधान किया है, किन्तु दोनों की परिभाषाओं में बहुत अन्तर पड़ जाता है। साथ ही, भरत ने गुणों को दोषाभाव गुणों पर आचार्यों कहा है, पर दण्डी का मत इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है।

के वामन ने यथार्थ ही गुणों को दोषाभाव-प्रसूत न मानकर भिन्न-भिन्न विचार अतिरिक्त धर्म माना है। दण्डी ने जिन दस गुणों का उल्लेख किया है वे न तो बहुत स्पष्ट हैं और न तर्क-सम्मत ही। कुछ गुण शब्द-निर्देश करते हैं, कुछ अर्थ-निर्देश और कुछ दोनों। वामन की तरह उन्होंने शब्द-गुण और अर्थ-गुण का विभेद नहीं किया है। परिभाषाओं में भी बड़ा साम्य आ गया है। अर्थ-व्यक्ति का प्रसाद के साथ सरलता से निर्वाह हो सकता है। उदारता और कान्ति की परिभाषाएँ स्पष्ट नहीं हैं। इसी तरह समाधि-गुण की परिभाषा रूपकालंकार की परिभाषा से इतना साम्य रखती है कि दोनों का अन्तर बताना कुछ कठिन हो जाता है। दण्डी के अनुसार समाधि-गुण और रूपकालंकार का अन्तर इस प्रकार है कि गुण में केवल धर्म या कार्य का दूसरी वस्तु पर आरोप किया जाता है, पर अलंकार में एक धर्म को दूसरी वस्तु में मान ही लिया जाता है। ऐसी प्रक्रिया लक्षणा पर निर्भर रहनेवाली आलंकारिक व्यञ्जना है और समाधि-गुण की यह परिभाषा वामन की दृष्टि में वक्रोक्ति का ही एक अंग है।

वामन ने परम्परागत संख्या के अनुसार दस गुण ही गिनाये हैं, परन्तु अन्य आचार्यों से भिन्न उन्होंने दसों गुणों को अलग-अलग शब्द-गुण और अर्थ-गुण में विभाजित किया है। इस विभाजन से इतना लाभ तो अवश्य मानना पड़ेगा कि भरत और दण्डी के वामन और शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण गुण-विवेचन में जो अस्पष्टता रह गई थी वह बहुत-कुछ दूर हो गई; लेकिन दूसरी ओर इससे व्यर्थ ही शब्द-गुण को अर्थ पर और अर्थ-गुण को शब्द पर आरोपित करने की उलझन भी बढ़ी। मम्मट, हेमचन्द्र, जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने इसका विरोध किया। स्वयं वामन को भी इस ढंग से गुणों का विभाजन करने की भूल का पता रहा होगा, लेकिन शायद मम्मट और गुण परम्परा से आई हुई संख्या को न्यून करने का साहस उन्हें नहीं हुआ। उसी के फलस्वरूप गुणों का ऐसा विभाजन किया गया। मम्मट तथा उनके अनुयायियों ने गुणों की संख्या में काफी कतर-व्योंत कर मनोवैज्ञानिक प्रणाली पर केवल तीन प्रधान गुणों—प्रसाद, ओज और माधुर्य—की अवस्थिति स्वीकृत की। आजकल ये ही तीन गुण सर्वमान्य हैं।

दोषों के सम्बन्ध में भरत ने जो दस भेद किये हैं उन्हें भामह और दण्डी ने, केवल दस की परम्परागत संख्या को छोड़कर, नहीं अपनाया। दोनों ने अपने-अपने ढंग से दोषों का उल्लेख किया है। भामह ने दस के अतिरिक्त एक ग्यारहवें दोष का भी नाम दिया है, जो तर्क (प्रतिज्ञा, हेतु भामह और दण्डी तथा दृष्टान्त) से सम्बन्ध रखता है। भामह ने दो प्रकार तथा दोष के दोषों का उल्लेख किया है और कवियों को उनसे वचने का आदेश दिया है। दोनों प्रकार के दस-दस दोषों में क्या पारस्परिक अन्तर है, इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रकाश नहीं डाला, किन्तु उनकी विषय-प्रतिपादन-शैली से यह पता चल जाता है कि पिछले दस दोष काव्य की आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं और पहले दस दोष थोड़े-बहुत काव्य के बाह्यावरण से। दण्डी ने भामह के अनुकरण पर दस दोषों का विधान कर यह दिखलाने की चेष्टा की कि वे दोनों भरत के सम्प्रदाय से भिन्न हैं, परन्तु दण्डी ने भामह के ग्यारहवें दोष का तीव्र विरोध किया।

अलंकार

काव्य की शोभा बढ़ानेवाले धर्म को अलंकार कहते हैं। प्रतिभाशाली कवि के वचन में स्वभावतः जो एक प्रकार का वांकपन आ जाता है, वही वस्तुतः अलंकार है। साधारण वचन को, जिसमें न कोई वक्रता है और न विदग्धता ही,

कई आचार्यों ने कवित्वपूर्ण नहीं माना। इस प्रकार की अलंकार पर स्वभावोक्ति या साधारण वचन के साथ पक्षपात करने पर भी कुछ दण्डी ने वक्रोक्ति से उसे भिन्न ही माना। परन्तु, भामह और आचार्यों के कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार मानना स्पष्ट रूप से विचार अस्वीकृत किया। कवि की प्रतिभा में लोकातिक्रान्तगोचरता का अभाव रहने से उसके काव्य में वक्रता नहीं रहेगी और तब वह काव्य ही न रह जायगा। दण्डी ने स्वभावोक्ति को अलंकार मानकर, भामह के वक्रोक्तिवाले सिद्धान्त से असहमत होते हुए भी, उनकी इस बात में अपनी सहमति प्रकट की कि सब अलंकारों में अतिशयोक्ति आवश्यक है।

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य-वस्तु की प्रकृति पर यथेष्ट विचार न कर एक प्रधान विषय की अवहेलना की है। उनकी सारी प्रतिभा काव्य-वस्तु के विधान में ही खचं हुई है। केवल स्वभावोक्ति और भाविका से यह आभास मिलता है कि वे इस समस्या से परिचित तो थे, पर उन्होंने इस ओर विशेष ध्यान देना किसी कारण उचित नहीं माना।

वक्रोक्ति में कोई बात कुछ घुमा-फिराकर कही जाती है। रुद्रट ने इसे ऐसा ही कहा। इसके बाद अनेक आचार्यों ने काकु और श्लेष से पुष्ट कर शब्दालंकार में वक्रोक्ति का व्यवहार किया है। परन्तु, वामन ने इसे शब्दालंकार न मानकर, लक्षण के ऊपर निर्भर रखकर, रूपकमय अर्थालंकार में नियोजित किया। भामह ने, एक प्रकार से दण्डी की तरह ही, अलंकार में वक्रोक्ति को समवाय-रूप से समस्त अलंकारों की एक संज्ञा वक्रोक्ति स्वीकृत किया। कुन्तक ने इसी आधार पर अपने अलंकार-की योजना सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। भामह ने वक्रोक्ति को अलंकार-सर्वस्व मानकर भी कहीं उसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की। उस समय के प्रचलित अलंकारों में जहाँ-कहीं उन्हें वक्रता का अभाव दिखाई पड़ा, वहीं अलंकारों की सूची में कतर-व्योंत उन्होंने की। इसी तरह उन्होंने हेतु, सूक्ष्म और श्लेष को अलंकारों की सूची से साफ-साफ उड़ा दिया।

अलंकार-मात्र में अतिशयोक्ति की व्यापकता मानने में भामह के साथ कुन्तक ने भी अपनी रुचि प्रदर्शित की और जैसा हम पहले लिख चुके हैं, दण्डी भी एक दूसरे ढंग से प्रायः इसी निष्कर्ष पर अलंकार में अतिशयोक्ति पहुँचे। इस सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धनाचार्य का कथन की वड़ा महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने भी भामह के अति-व्यापकता शयोक्ति और वक्रोक्ति-सम्बन्धी विचार का उल्लेख करते हुए समस्त अलंकारों में अतिशयोक्ति की व्यापकता स्वीकृत की और उसका नामकरण भी 'सर्वालङ्कारसामान्यरूपम्' की संज्ञा से किया।

अलंकारों की संख्या और प्रत्येक की परिभाषा के विषय में आरम्भ से ही बड़ा मतभेद रहा है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में केवल चार अलंकारों—उपमा, रूपक, दीपक और यमक—का ही वर्णन किया है। इन अलंकारों का सम्बन्ध रसों के साथ कैसा होना चाहिए, इस विषय पर भी उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं। भरत के बाद ज्यों-ज्यों साहित्य-अलंकारों की संख्या शास्त्र पर विचार होता गया, त्यों-त्यों अलंकारों की संख्या और जटिलता भी बढ़ती ही गई। जो अलंकार परिभाषा काव्य की शोभा के लिए साधन-रूप से प्रयुक्त होते थे, वे ही परम्परा चल पड़ने के कारण काव्य के साध्य बन गये। अलंकारों की संख्या बढ़ जाने और प्रत्येक आचार्य के मतानुसार परिभाषाएँ बड़ी अस्पष्ट होने लगीं। उद्भट की तुल्ययोगिता मम्मट की तुल्ययोगिता से मिलती है; पर भामह का इसी नाम का अलंकार मम्मट के दीपक के साथ बहुत-कुछ समानता रखता है। दृष्टान्त और काव्यलिङ्ग अलंकारों का, जिन्हें काव्य-दृष्टान्त तथा काव्य-हेतु भी कहते हैं, भामह ने निर्देश ही नहीं किया। लेकिन, उद्भट ने सर्वप्रथम उनकी सोदाहरण परिभाषाएँ लिखीं। साथ ही, पुराने आचार्यों में एक उद्भट ही ऐसे हैं, जिन्होंने यमक का उल्लेख नहीं किया। फिर भामह ने सहोक्ति, उपमा और हेतु में श्लेष का अस्तित्व स्वीकार किया और दण्डी ने श्लेष की सहायता से सब अलंकारों की सुन्दरता बढ़ने की बात कहकर उसकी व्यापकता बहुत बढ़ा दी। रुय्यक के मतानुसार श्लेष का शब्द-श्लेष तथा अर्थ-श्लेष-सम्बन्धी विवाद उद्भट के समय से ही चला है। भामह और भट्टि ने दो या अधिक अलंकारों की संसृष्टि मानी है।

लेकिन, उद्भट ने ऐसा उल्लेख न कर संकर के चारों भेदों का ही विवेचन किया है। इस विषय में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मम्मट और रुय्यक ने ही सब अलंकारों का चयन कर इन्हें एक अनुक्रम से सजाया है।

अलंकारवाद की प्रधानता यहाँ तक बढ़ी कि थोड़ा-थोड़ा अन्तर मानकर और कहीं-कहीं बाल की खाल निकालकर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अपह्नुति, अनन्वय आदि सैकड़ों अलंकारों से एक ही अनेक अलंकारों वस्तु का बोध कराने की परिपाटी चल पड़ी। किसी से एक ही वस्तु युवती के मुख के प्रसन्न सौन्दर्य का बोध कराने के लिए का बोध साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने अलंकारों की इतनी बड़ी भीड़ एकत्र की है :

१. उसका मुख चन्द्रमा के समान है। (उपमा)
२. चन्द्रमा उसके मुख के समान है। (प्रतीप)
३. उसका चन्द्रमुख। (रूपक)
४. उसका मुख है या चन्द्रमा ? (सन्देह)
५. यह चन्द्रमा है, यह उसका मुख नहीं है। (अपह्नुति)
६. चन्द्रमा उसके मुख के समान है और उसका मुख चन्द्रमा के समान है ! (उपमेयोपमा)
७. उसका मुख उसके मुख की तरह ही है। (अनन्वय)
८. चन्द्रमा को देखकर उसके मुख की याद आती है। (स्मरण)
९. उसको चन्द्रमा समझकर चकोर उसके मुख की ओर उड़ा।
(भ्रान्तिमान)
१०. यह चन्द्रमा है; यह कमल है, बस, चकोर और भ्रमर उसके मुख की ओर उड़ते हैं। (उल्लेख)
११. यह मानों चन्द्रमा ही है। (उत्प्रेक्षा)
१२. उसके मुखचन्द्र की शोभा कुछ और ही है। (अतिशयोक्ति)
१३. चन्द्रमा और कमल उसके मुख के कारण विलीन हुए। (तुल्ययोगिता)
१४. उसका मुख और चन्द्रमा रात्रि में आनन्द मनाते हैं। (दीपक)
१५. उसका मुख सदा खिला रहता है, पर चन्द्रमा केवल रात्रि में ही सुशोभित होता है। (व्यतिरेक)

१६. उसका मुख पृथ्वी पर सुशोभित है, चन्द्रमा आकाश में देदीप्यमान है।
(दृष्टान्त)
१७. चन्द्रमा आकाश में विचरण करता है और पृथ्वी पर उसका मुख सुशोभित होता है। (प्रतिवस्तूपमा)
१८. उसके मुख में चन्द्रमा का सौन्दर्य है। (निदर्शना)
१९. उसके मुख के सम्मुख चन्द्रमा मलिन है। (अप्रस्तुत प्रणंसा)
२०. उसके चन्द्रमुख से वासना उत्तेजित हो जाती है। (परिणाम)
२१. उसका मुख बड़ी-बड़ी काली आँखों की मुस्कान की आभा से शोभित है। (समासोक्ति) आदि।

इस प्रकार, एक ही मुख के बोध के लिए अनेक अलंकारों का उपयोग किया जा सकता है। फिर, एकाएक अलंकार के भेद-उपभेद की सेना खड़ी कर दी जाय, तो एक अच्छा तमाशा हो सकता है। जितने अलंकार हैं, उनकी परिभाषाओं के सम्बन्ध में सभी आचार्य एकमत नहीं हैं। अतः, यह सम्भव है कि ऊपर दिये गये उदाहरणों में भी थोड़ा-बहुत मतभेद की गुंजाइश हो।

रीति

ऐतिहासिक दृष्टि से भामह के बाद दण्डी का स्थान आता है। और, वामन, जो दण्डी के परवर्ती रहे, भामह के टीकाकार उद्भट के सम-सामयिक थे। साहित्य-शास्त्र में जिस रीतिवाद का प्रतिपादन दण्डी और वामन ने किया, उसकी परम्परा सम्भवतः भामह से रीति की परम्परा पुरानी थी। उन्होंने ही इस बात की ओर संकेत किया है कि जिस रीति का विवेचन वे कर रहे हैं वह किसी-न-किसी रूप में उनके पहले की परम्परा में वर्तमान थी। दण्डी के ऊपर अलंकार-शास्त्र का बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा था और रीति के तो वे उन्नायक ही थे। अतः, उनका स्थान भामह के अलंकार-सिद्धान्त तथा वामन के रीति-सिद्धान्त के बीच में ही पड़ता है। सैद्धान्तिक रूप से यह स्पष्ट है कि वे वामन के पोषक थे।

रीतिवाद के विकास के साथ ही अलंकारवाद का पराभाव झलकने लगा। रीतिवादी वामन ने गुण को काव्य में नित्य बताया और अलंकार की

अनित्यता बताकर यह कहा कि गुण से जो सौन्दर्य काव्य में पहले से ही आ जाता है, उसी का वह संवर्द्धन करता है। वामन ने वामन और दण्डी की अपेक्षा साहित्य-शास्त्र में अपनी विशेष योग्यता रीति-सिद्धान्त का परिचय दिया है। उद्भट ने कश्मीर में जिस समय काव्य में अलंकार-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसी समय वामन स्पष्टतया दण्डी के आधार पर अपने रीति-सिद्धान्त का विधान कर रहे थे। रीतिवाद का सबसे अच्छा प्रतिनिधि वामन ही माने जाते हैं। जो बातें दण्डी में अस्पष्ट और विशृंखल हैं वे ही वामन में बड़ी सुवोध और नियमित हो गई हैं। ध्वनिकार, आनन्द वर्द्धनाचार्य आदि के पहले साहित्य-शास्त्र का प्रौढ़ निर्माता बनने का गौरव भी उन्हीं को प्राप्त है। वामन के पूर्ववर्त्ती विद्वानों ने केवल काव्य-शरीर के सम्बन्ध में ही विचार-विमर्श कर अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया, परन्तु पहली बार वामन ने ही काव्य की आत्मा पर ध्यान दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से—रीतिरात्मा काव्यस्य—रीति को काव्य की आत्मा माना है। शब्द और अर्थ से काव्य-शरीर का निर्माण कर रीति से आत्मा की प्रतिष्ठा की। संक्षेप में, उन्होंने रीति की परिभाषा विशिष्ट पद-रचना बताई और उसके वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली नाम से तीन विभाग किये। वैदर्भी में दसों गुण, गौड़ी में ओज तथा कान्ति और पांचाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण बताये। इन्हीं तीन रीतियों पर काव्य का विधान होता है। इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि तीनों रीतियों के नाम क्रमशः विदर्भ, गौड़ और पांचाल प्रान्त के निवासियों की रचना-शैली के अनुसार रखे गये। वामन ने रीति के तत्त्व होने के कारण काव्य में गुणों की अनिवार्यता पर बड़ा जोर दिया। अतएव, रीति को गुणात्मा भी कहा गया है। उद्भट के अनुसार रीति का सम्बन्ध शब्द-विन्यास के साथ है और उन्होंने उसे शब्द की समासवती वृत्ति कहा है। रीति का सम्बन्ध शब्द-विन्यास के साथ उचित ही बताया जाता है। काव्य की आत्मा मानने के सम्बन्ध में आचार्यों में बहुत मतभेद है।

ध्वनि

अन्य साहित्य-शास्त्रियों की तरह ध्वनिकार का परिचय भी अन्धकार में छिपा हुआ है। ध्वनिकार के सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी है, वह आनन्द-

वर्द्धनाचार्य की कृपा का फल है। इतना स्पष्ट है कि ध्वनिकार आनन्दवर्द्धनाचार्य से पूर्ववर्ती नहीं थे। ध्वन्यालोक में जिस ध्वनि-सम्प्रदाय का ध्वनि की प्रतिपादन किया गया है, वह भी उस समय के लिए बिलकुल परम्परा नवीन सिद्धान्त नहीं था। सिद्धान्त तो बहुत थोड़े नवीन होते हैं, उनकी प्रतिपादन-शैली ही नवीन होती है। ध्वन्यालोक के आरम्भ में ही ध्वनिकार ने—‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नात-पूर्वः’—ध्वनि को काव्य की आत्मा कहकर पूर्ववर्ती आचार्यों की परिचित परम्परा की ओर संकेत किया है। इस विषय में इतना विचारणीय है कि जिस प्रकार रस के स्वरूप पर थोड़ा-बहुत वाद-विवाद होता आया, उसी प्रकार ध्वनि की चर्चा भी क्यों न उठी। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। व्यंजना, व्यंग्य अर्थ या ध्वनि शब्दों का प्रयोग भी साम्प्रदायिक अर्थों में पूर्ववर्ती आचार्यों ने नहीं किया है। इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि ध्वनिकार ने शब्द का जो शक्ति-विभाग किया है उसका आभास-मात्र ही उन्हें पिछली रचनाओं में मिला होगा। उस समय, और इस समय भी जनता में इतनी रुढ़ि-प्रियता है कि अकस्मात् किसी नई बात को मानने के लिए कोई प्रस्तुत नहीं होता। नवीन सिद्धान्त में प्राचीन परम्परा का थोड़ा-सा योग होने से ही उसके बहुत अनुयायी मिल सकने की सम्भावना रहती है। शायद ध्वनिकार और उनके चलाये हुए सम्प्रदाय के विषय में भी यही तर्क उपयुक्त हो।

वैयाकरणों ने व्यंजना को स्वीकृत नहीं^१ किया। किन्तु, दार्शनिकों के लिए यह कोई नई बात न थी। स्वयं आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इस शंका की अपेक्षा कर कहा है कि वास्तव में ध्वनि ऐसी कोई रहस्यमय ध्वनि का वस्तु नहीं है, जिसकी व्यवस्था न हो सके, प्रत्युत यह सहज ही लक्ष्य समझ में आनेवाली है। ध्वनिकार को रस, अलंकार, रीति आदि का पूरा परिचय था; क्योंकि ध्वन्यालोक में दो प्रधान लक्ष्य रखे गये हैं—ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना और रस, रीति, अलंकार, गुण आदि की मीमांसा के अनुसार ध्वनि के साथ उनकी योजना। इस प्रकार की

१. प्राचीन वैयाकरण व्यंजना को नहीं मानते, परन्तु नवीन वैयाकरण व्यंजना को स्वीकृत करते हैं। कहा जाता है कि स्फोट-सिद्धान्त से ही ध्वनि का आभास मिला है।

पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन-शैली का प्रभाव ऐसा पड़ा कि अनेक परवर्ती आचार्यों ने ध्वनि-सम्प्रदाय का लोहा मान लिया ।

सर्वप्रथम ध्वनिकार ने शब्दों के तीन विभाग—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नाम से किये । शब्द-विभाग की यह प्रणाली कुछ तो वैयाकरणों, नैयायिकों और मीमांसकों के अनुकूल पड़ी और कुछ प्रतिकूल । अभिधा से मुख्य या शक्य अर्थ लिया गया । अभिधा की असमर्थता शब्द-विभाग— पर रुढ़ि और प्रयोजन दिखाने के लिए लक्षणा स्थिर हुई । अभिधा, लक्षणा लक्षणा को अभिधा से अलग मानने के लिए बड़ा विरोध तथा व्यञ्जना किया गया । वाच्य अर्थ के बिना लक्षणा का कोई व्यापार सिद्ध नहीं हो सकता; अतएव, लक्षणा की दूसरी संज्ञा 'अभिधापुच्छभूता' हुई । भट्टनायक अभिधा से लक्षणा को भिन्न मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हुए । लक्षणा को भिन्न मानने के लिए तीन कारण उपस्थित किये गये— १. मुख्य अर्थ की वाधा, २. मुख्य अर्थ का सम्बन्ध, ३. रुढ़ि या प्रयोजन । इन तीनों कारणों की उपस्थिति से लक्षणा होती है । व्यञ्जना से किसी नये अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता, बल्कि जो वस्तु पहले से ही वर्तमान रहती है, उसी का प्रतिपादन उससे होता है ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने यह दिखलाया कि ध्वनिवादियों की व्यक्ति या व्यञ्जना किस प्रकार रस-परिपाक के लिए उपयुक्त हो सकती है, और इस प्रकार उन्होंने रस और ध्वनि की एकात्मता प्रतिपादित करने की कोशिश की ।

अभिनव ने रस के महत्त्व को इतना बढ़ाया कि ध्वनिकार और ध्वनि और आनन्दवर्द्धनाचार्य से भी कुछ आगे बढ़कर उन्होंने रस को काव्य रस की का एकमात्र तत्त्व या सौन्दर्याधार बताया । परवर्ती आचार्यों एकात्मता पर इस मत का प्रभाव भी खूब पड़ा । वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि की उपेक्षा कर उन्होंने—'रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्'—रस से ही काव्य अनुप्राणित होता है, कहकर रस-ध्वनि की प्रधानता का स्वर ऊँचा किया । वस्तु और अलंकार को रस में सम्मिलित कर लिया । कविराज विश्वनाथ के ऊपर इसका इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'—रसात्मक वाक्य को ही काव्य मान लिया ।

वाच्यार्थ की भाँति व्यंग्यार्थ द्वारा सर्वत्र कथन नहीं हो सकता । व्यंग्यार्थ की प्रधानता को ही ध्वनि कहते हैं । वाच्यार्थ ध्वनि के मुख्य और व्यंग्यार्थ जहाँ जिसमें विशेष चमत्कार लक्षित दो भेद होता है, वहाँ उसी की प्रधानता होती है । ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला ।

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ का बोध होता है, किन्तु उसका उपयोग नहीं होता, उसे ध्वनि कहते हैं । इसका दूसरा नाम अविवक्षित वाच्य-ध्वनि भी है । इसमें गूढ़ व्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा होती है । इसके भी लक्षणामूला दो भेद हैं—अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि और अत्यन्त ध्वनि तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि । जिसमें वाच्यार्थ छोड़ा न गया हो और ऊपर से भी उसमें कुछ जोड़ा गया हो, उसे अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि कहते हैं । लक्षणा में उसी को उपादान-लक्षणा कहते हैं । भेद केवल इतना ही है कि यह ध्वनि में है और वह लक्षणा में । कोयल, कोयल ही है और कौआ, कौआ ही । यहाँ दूसरे 'कोयल' शब्द में मधुर शब्द बोलनेवाले और दूसरे 'कौआ' शब्द में कर्कश बोलनेवाले पक्षियों की ध्वनि है । मधुरता और कर्कशता में अर्थ संक्रमित होकर गया है । जहाँ वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार होता है, वहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि कहते हैं । इसमें प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा होती है । 'क्या भरा सरोवर है कि लोग लोट-लोटकर नहा रहे हैं ।' यहाँ 'भरा' शब्द का विपरीत अर्थ 'खाली' लिया गया है । यही व्यंग्य है ।

अभिधामूला ध्वनि के भी दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य । क्रम से यहाँ यह तात्पर्य है कि वाच्यार्थ के पीछे व्यंग्यार्थ हो, पर जहाँ यह क्रम लक्षित न हो वहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है । क्रम का होना तो निश्चित ही है, पर वह इतना सूक्ष्म होता है कि किसी को उसका पता अच्छी तरह लगता ही नहीं । इसमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता की व्यंजना होती है । 'उसकी त्यौरी चढ़ गई, आँखें लाल-लाल हो गई'—इस वाक्य से रौद्र रस की व्यंजना होती है । शब्द और अर्थ की प्रतीति का क्रम बहुत ही सूक्ष्म है । संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि से वस्तु और अलंकारादि की व्यंजना होती है । इसके तीन भेद हैं—शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और उभय शक्त्युद्भव । इनके उपरान्त गुणीभूत व्यंग्यादि का विवेचन है ।

वक्रोक्ति

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन करना लक्ष्य न बनाकर, भामह की वक्रोक्ति के आधार पर, अपना मत निश्चित किया। ऐसा मालूम होता है, ध्वनिवाद की व्यंजना को उन्होंने काव्य में उपयोगी माना और ध्वनि तथा रस के प्रायः सभी मुख्य विचार कुन्तक और वक्रोक्ति उन्होंने अपने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय में समन्वित कर लिये। कुन्तक का प्रधान अभिप्राय यह है कि वक्रोक्ति काव्य का प्राण है। वक्रोक्ति से वे काव्य में ऐसे विचित्र विन्यास-क्रम की स्थापना करना उचित समझते हैं, जो अभिव्यंजना के साधारण इतिवृत्तात्मक ढंग से भिन्न हो। इस प्रकार, वैचित्र्य या विच्छिन्नता की प्रधानता मानकर उन्होंने स्वाभाविक और कलात्मक अभिव्यंजना में भेद बताया है। कुन्तक के मतानुसार अलंकृत शब्द और अर्थ से ही काव्य-रचना हो सकती है और इसके लिए वक्रोक्ति ही उपयुक्त है।

अनन्तर कुन्तक ने बताया है कि कवि की प्रतिभा और कौशल से वक्रोक्ति आनन्द देती है। इसी कारण इसे 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' कहते हैं। उन्होंने काव्य के लिए कल्पना या कवि-व्यापार का महत्त्व काव्य-व्यापार भी बताया, परन्तु उसकी व्याख्या नहीं की। सम्भवतः, के यह इसलिए कि वह स्वभावतः व्याख्या-योग्य नहीं है। छह विभाग लेकिन थोड़ा विश्लेषण कर उन्होंने कवि-व्यापार के वर्ण, पद-पूर्वाङ्ग, पद-पराङ्ग, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध—छह विभाग बताये। उन्होंने कवि-व्यापार-वक्रता से उपर्युक्त छह विभागों की परिभाषा, उदाहरणादि में ही अपनी रचना का प्रायः सर्वांश, आरम्भ की प्रस्तावना को छोड़कर, अर्पित किया।

इस संक्षिप्त परिचय से यह पता लग जाता है कि कुन्तक को वैसा काव्य कदापि मान्य न था, जिसमें वक्रताहीन स्वभावोक्ति रही हो।

भामह के संकेत पर उन्होंने काव्य में 'लोकातिक्रान्त गोचरता' को आवश्यक माना। इसी में अतिशयोक्ति भी सम्मिलित है। इसके बिना वक्रोक्ति-वैचित्र्य में चमत्कार नहीं आ सकता। इसी लोकोत्तर चमत्कार के पास पहुँचकर कुन्तक रस-सिद्धान्त को

मानने के लिए बाध्य-से हो जाते हैं। इस लोकोत्तर वैचित्र्य को उन्होंने तद्विदाह्लाद का तादात्म्य स्थिर किया है। रस के सम्बन्ध में उनकी उक्ति है कि काव्यामृत का रस उस काव्य को समझनेवाले सहृदयों के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग-रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार को उत्पन्न करता है। 'चमत्कारो वितन्यते' का अभिप्राय काव्य-रस के अलौकिक आनन्द से ही है, ऐसा उन्होंने विवरण में स्पष्ट रूप से कहा है।

कुन्तक ने काव्य की कोई नई परिभाषा नहीं दी। 'शब्दार्थौ काव्यम्' काव्य का एक सामान्य लक्षण है, किन्तु कुन्तक ने उनमें 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति-रुच्यते' जोड़कर वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा की है। केवल शब्द काव्य नहीं, केवल अर्थ भी काव्य नहीं; दोनों के मिलने से भी तबतक काव्य नहीं माना जा सकता, जबतक उसमें काव्य-मर्मज्ञों के लिए आह्लादकारक वक्रतापूर्ण कवि-व्यापार न हो। इस प्रकार, कुन्तक ने 'शब्दार्थौ काव्यम्' में वक्रोक्ति को प्रधान तत्त्व के रूप में विहित किया है।

कुन्तक की प्रतिष्ठा का एक बड़ा आधार यह है कि उन्होंने अन्यान्य आचार्यों से भिन्न होकर काव्य में अलंकार्य और अलंकार के भेद को मिटा दिया है। शब्द और अर्थ, दोनों मिलकर एक काव्य नाम को प्राप्त करते हैं, यह कथन ही वक्रतापूर्ण होने से वक्रोक्ति है। शब्द और अर्थ, दोनों अलंकार्य ही हैं, अलंकार का अभेद तब उनका अलंकार कौन-सा है? कुन्तक ने शब्द और अर्थ, दोनों को एक ही साथ अलंकृत करने के लिए वक्रोक्ति का विधान किया, किन्तु इसे एक अलग अलंकार के रूप में स्वीकृत नहीं किया। अलंकार-शास्त्र के जिन आचार्यों ने 'स्वभावोक्ति' को अलंकार माना है उनके विषय में कुन्तक ने बड़ी तर्कपूर्ण शैली में कहा है कि जो पदार्थ के स्वरूपाधायक धर्मभूत स्वभाव की उक्ति को अलंकार मानते हैं, उनकी समझ में फिर अलंकार्य क्या हो सकता है! कुन्तक स्वयं अलंकार्य और अलंकार का भेद नहीं मानते, किन्तु स्वभावोक्ति अलंकार का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा है कि हम अलंकार्य और अलंकार का वास्तविक विभाग नहीं मानते हैं; पर हमारे विचार में, वहाँ भेद-विवक्षा से, जिस प्रकार वैयाकरण सिद्धान्त में 'पद' से भिन्न उसके अवयव-रूप वर्ण

नहीं होते और वाक्य से भिन्न उसके अवयवभूत 'पदों' की स्वतन्त्र स्थिति नहीं, फिर भी, प्रकृति-प्रत्यय, क्रिया-कारक आदि व्यवहार किया जाता है, इसी प्रकार काव्य में भी अलंकार और अलंकार्य की भिन्न पारमाथिक स्थिति न होने पर भी, भेद-विवक्षा में 'अलंकार्य-अलंकार' विभाग किया जा सकता है। स्वभावोक्तिवाद में अलंकार्यभूत पदार्थ-स्वरूप को ही अलंकार मान लेने पर वह भेद नहीं बनता है। अतः, यह स्वभावोक्ति की अलंकारता का पक्ष ठीक नहीं है।

‘वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्’ को भामह के आलंकारिक सिद्धान्त का ही परिष्कृत और सुगठित नवीन रूप कह सकते हैं। ध्वनिवादियों ने अलंकार को वाग्विकल्प कहकर उपेक्षा की है या जहाँ ध्वनि में रस की वक्रोक्ति में अपेक्षा अलंकार व्यंग्य हो वहाँ, उसे गुणीभूत व्यंग्य समझकर अलंकार और मध्यम काव्य की श्रेणी में धकेल दिया है। इसके रस का स्थान विपरीत, कुन्तक ने वैचित्र्य, विच्छिन्नता या वक्रत्व के रूप से वक्रोक्ति में जो अलंकार आ जायें उन सबका पक्ष लिया है। मम्मट ने कहा है, जहाँ रस व्यंग्य न हो, वहाँ अलंकार केवल उचित-वैचित्र्य में ही परिणत होगा।

वक्रोक्तिजीवितकार के सिद्धान्त का विश्लेषण कर देखने पर कई ऐसी बातों का पता लगता है, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि कुन्तक ने ध्वनि-सम्प्रदाय से कितनी बातें उधार ली हैं। ध्वनि का वह भेद जिसे अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि कहते हैं, वक्रोक्ति की रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रता में सम्मिलित है और कुछ भाव, जो अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, उपचार-वक्रता में ध्वनि-सम्प्रदाय मिला दिया गया है। उपचार की व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि कुन्तक ने उसका व्यवहार दो वस्तुओं की थोड़ी-बहुत समानता से भी किया है। इस प्रकार, रूपक की भाँति भी उसका आरोप हो सकता है। विस्तृत मीमांसा करने से लक्षणा के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित होता है और ध्वनिवादियों के अनुसार वह लक्षणामूला ध्वनि में परिगणित हो सकता है। ध्वनिवादियों के शब्दों में कुन्तक की गणना वैसे सम्प्रदाय में हो सकती है, जो ध्वनि के अस्तित्व को अस्वीकृत तो नहीं करता, किन्तु उसे भक्त या लक्षणा के ऊपर निर्भर समझता है।

रस-ध्वनि के विषय में जो असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के अन्तर्गत है, यह स्पष्ट है कि कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति का एक तत्त्व-मात्र मान लिया है, उसकी अनिवार्यता स्वीकृत नहीं की। वाक्य-वक्रता की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह बताया है कि किस प्रकार उपयुक्त रस की प्रतिष्ठा वक्रोक्ति से काव्य में सौन्दर्य आ सकता है। इसी प्रसंग में थोड़े और विस्तार के साथ उन्होंने रसवत्, प्रेयस् आदि की समीक्षा रस-ध्वनि की है, जिनमें पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने, अलंकार की प्रधानता मानते हुए, रस को तत्त्व-रूप से स्वीकृत किया था। अलंकार-पद्धति में रस के प्रवेश के लिए रसवत् आदि ने ही मार्ग प्रशस्त किया। ध्वनिवादियों ने रसवत् को गुणीभूत व्यंग्य में सम्मिलित कर उसके क्षेत्र को असंलक्ष्य क्रमध्वनि से भिन्न बताया। इसका कारण यह उपस्थित किया गया कि जब काव्य में रस प्रधान होगा, तब वह अलंकार्य रहेगा, किन्तु व्यंजित अर्थ से जब वह गौण हो जायगा, तब वह अलंकार में परिगणित हो सकता है।

कुन्तक ने रसवत् को वस्तु-वक्रता में रखा है, जिसके सहज और आहार्य वस्तु नाम में दो रूप हो सकते हैं। रस का उद्देश आहार्य वस्तु में ही किया गया है। यह कवि-शक्ति-व्युत्पत्ति-परिपाक-प्राद की संज्ञा रसवत् से वर्णित है। कुन्तक ने भामह, दण्डी आदि की रसवत् की परिभाषाओं की समीक्षा की और स्थिर किया कि वह न तो दर्शित स्पष्ट शृंगारादि रस है, रस-संश्रय है, और न रस-प्रेषण ही है; बल्कि वह रस के तुल्य वर्त्तमान है। अतएव, वह अलंकार नहीं, अलंकार्य है। प्रबन्ध-वक्रता में कुन्तक ने रस की स्वतन्त्रता को बहुत अवकाश दिया है।

‘व्यक्ति-विवेक’—ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धनाचार्य के सिद्धान्त के खण्डन के लिए ही यह ग्रन्थ लिखा गया मालूम होता है; क्योंकि इससे किसी सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादन नहीं होता। ध्वन्यालोक द्वारा व्यवस्थित व्यक्ति या व्यंजना को महिमभट्ट ने अनुमान प्रमाणित किया है। ध्वनि की परिभाषा उनके मतानुसार अनुमान में ही घटित होती है। ध्वन्यालोक में दिये गये अधिकांश उदाहरणों को उन्होंने अनुमान के उदाहरण ही बताये हैं। संक्षेप में, उन्होंने ध्वनि को काव्यानुमिति कहा है।

सबसे प्रधान बात इसमें यही है कि महिमभट्ट ने शब्द के दो ही भेद—वाक्य और अनुमेय—स्वीकृत किये। लक्ष्य तथा व्यंग्य की स्वतन्त्र शब्द के दो सत्ता न स्वीकृत कर, दोनों को अनुमेय में ही शामिल भेद—वाच्य कर दिया। समीक्षा, तर्क, भेद—वाक्य विद्वत्ता की दृष्टि से महिमभट्ट का व्यक्ति-विवेक अपने ढंग का एक और अनुमेय ही ग्रन्थ है, परन्तु इससे किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन न होने के कारण हमारे लिए यह प्रतिपाद्य नहीं है।

संस्कृत-साहित्यशास्त्र का इतिहास लगभग दो हजार वर्षों का है। इस अवधि में अनेक आचार्यों ने काव्य या साहित्य-शास्त्र के सम्बन्ध में अनेकानेक सिद्धान्तों तथा वादों का खण्डन-मण्डन किया है। हिन्दी का अपना कोई स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र नहीं है; वह जो कुछ है, पूरी तरह संस्कृत-साहित्यशास्त्र के आधार पर ही विकसित हो सका है। हिन्दी को संस्कृत से भिन्न अपना व्याकरण-शास्त्र है, पर काव्य-शास्त्र नहीं, यह वस्तुतः एक विचारणीय विषय है। आधुनिक हिन्दी-कविताओं में तरह-तरह की जो प्रवृत्तियाँ आज दिखाई पड़ रही हैं, उन सबका मूल संस्कृत-साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों में नहीं है। किन्तु, यह सोचना या कहना गलत होगा कि हिन्दी-कविताओं में संस्कृत-साहित्यशास्त्र की परम्पराएँ नहीं हैं, पहले तो वे बहुत थीं, अब थोड़ी हैं। सिद्धान्त बराबर नहीं बदला करते, किन्तु वाद या प्रवृत्तियाँ समय-समय पर उत्पन्न होती और बदलती रहती हैं। स्वरूप में भिन्नता रहने पर भी, आज जो लक्षण हिन्दी-कविताओं में परिलक्षित हो रहे हैं, वे अपने ढंग से प्राचीन तथा मध्यकालीन संस्कृत-कविताओं में भी परिलक्षित रहे हैं। संस्कृत-साहित्यशास्त्र केवल सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक नहीं, उसमें वादों तथा प्रवृत्तियों का भी बहुत समवाय है।



आधुनिक अवस्था
प्रथम
श्री नारायणदास वी. वडाळ गान्धी (रूप)

काव्य में अभिव्यंजनाविद



पहला अध्याय

सहजानुभूति का तत्त्व

हमारे साहित्यशास्त्र के आचार्यों में भले ही—‘काव्य क्या है?’—इस विषय पर वाद-विवाद होता रहा हो और काव्य को साहित्य से भिन्न मानकर भले ही कोई ध्वनि को, कोई अलंकार को, कोई वक्रोक्ति को और कोई प्राक्कथन रस को काव्य की आत्मा मानता हो, किन्तु काव्य को साहित्य का अंग मानकर इस विषय में प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं कि काव्य का प्रधान लक्ष्य प्रभविष्णुता (Impression) है। काव्य का विषय चाहे वास्तविक जीवन का उल्लास हो, या काल्पनिक जीवन का विपाद, वह प्रत्येक दशा में मानव-जीवन के क्रिया-कलाप से ही सम्बद्ध रहेगा। उसमें व्यक्ति की व्यंजना रहेगी, जाति या समुदाय की नहीं। काव्य से कल्पना में मूर्त भावना की सृष्टि होती है, जो सहज ही मानस-पट पर अंकित हो जाती है। बुद्धि के सम्मुख विचार-विवेचन उपस्थित करने से काव्य का सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है। कल्पना का मूर्त-विधान निश्चय ही किसी व्यक्तिविशेष का ही रहेगा^१; क्योंकि मनुष्य की कल्पना-शक्ति एक बार ही किसी बड़े समुदाय का विश्लेषणात्मक रीति से बिम्ब-ग्रहण नहीं कर सकती। यदि ऐसा करने का प्रयत्न किया भी जाय, तो मनुष्य की सारी शक्ति, समस्त तेज उसी उद्योग में समाप्त हो जायगा और काव्यानुभूति का आनन्द उसे प्राप्त न हो सकेगा। व्यक्ति-विशेष की भाव-व्यंजना करते समय काव्य में सामान्य धर्म के आधार पर ही चरित्र-निर्माण होना चाहिए। विशेष व्यक्ति के लिए विशेष धर्म की व्यंजना हो सकती है, परन्तु उसमें पाठक या श्रोता को सरलता से नहीं, वरन्

१. न्याय के सिद्धान्तानुसार शब्द द्वारा जब कभी किसी अर्थ में बुद्धि जाती है, तब प्रथमतः वह जाति का ही बोध कराती है और पोछे किसी विशेष का। काव्य में इस सिद्धान्त से सर्वत्र काम नहीं चल सकता। न्याय में भाषा के संकेत-पक्ष से काम चल जाता है, किन्तु काव्य में भाषा के प्रत्यक्षीकरण-पक्ष के बिना बिम्ब-ग्रहण हो ही नहीं सकता।

कठिनता से बुद्धि के सहारे रसानुभूति होगी। काव्य के लिए सहजानुभूति (Intuition) ही सर्वस्व है, उसमें बुद्धि का व्यायाम हो जाने पर वह काव्यकार और पाठक—दोनों के लिए एक समस्या उपस्थित कर देता है। जिस काव्य में रस-संचार की प्रकृत क्षमता नहीं, वह भारतीय दृष्टि से ही नहीं, यूरोपीय दृष्टि से भी हेय है।

अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोचे के अनुसार समस्त मानव-ज्ञान दो खण्डों में विभक्त किये जा सकते हैं—एक कल्पना-जनित और दूसरा तर्क-जनित।

पहले खण्ड के ज्ञान का आधार कल्पना है और दूसरे का क्रोचे के विचार। कल्पना से हम जगत् के नाना रूपों और क्रियाओं के मतानुसार उन प्रभावों का, जिन्हें वे हमारी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ज्ञान के दो निरन्तर हमारे मस्तिष्क पर डालते रहते हैं, एक विशिष्ट खण्ड भावों के अनुकूल विम्ब अपने अन्तःकरण में उपस्थित करते हैं। इसके विपरीत, तर्क से हम उन प्रभावों की पारस्परिक तुलना करते, उनके गुणों की समता तथा विषमता के अनुसार उनका वर्गीकरण करते और फिर उनके शासक नियमों का उद्घाटन करते हैं। इस प्रकार क्रोचे ने एक से सहजानुभूति (Intuition) और दूसरे से विचार (Concept) के निर्माण की विधियाँ बतलाई हैं।^१

लॉक ने^२ ज्ञान के दो भेद अलग ही बताये हैं—पहला संवेदन (Sensation) और दूसरा विम्ब (Reflection)। उन्होंने इन दोनों लॉक के मतानुसार को आन्तरिक और बाह्य बोध भी कहा है; क्योंकि ज्ञान के दो भेद एक से, उनके मतानुसार, अपने मस्तिष्क की क्रियाओं का पता चलता है और दूसरे से बाह्यजगत् का ज्ञान प्राप्त होता है।

वर्कले ने ज्ञान को संवेदनात्मक बतलाया है। संवेदनावाद के प्रथम प्रतिपादक बेकन माने जाते हैं, यद्यपि उनके पहले भी संवेदना का बहुत-कुछ रूप स्थिर हो गया था। बेकन ने कल्पना और विचार-शक्ति से उत्पन्न ज्ञान को केवल ज्ञानाभास कहा है।

१. Benedetto Croce : Aesthetics, Ch. I.

२. Lockes' Essays, Bk. II., Ch. I.

अरिस्टॉटल के अनुयायियों ने संवेदना के साथ ही कल्पना को भी सम्बद्ध किया है।^१ आँखों के सम्मुख से दृश्य वस्तु के हट जाने पर, अरिस्टॉटल के और आँखें बन्द कर लेने के बाद भी, उसकी मूर्ति हमारे अनुयायियों मस्तिष्क में बनी रहती है, यद्यपि वह मूर्ति प्रत्यक्ष से का मत अवश्य ही कुछ धुँधली हो जाती है। इसी कारण कल्पना को म्रियमाण बोध (Decaying Sense) भी कहा जा सकता है।^२

यह देखकर कि कलाकृतियों का हमारा ज्ञान सीमा और काल के रूप में होता है, पर हमारी भावना और संवेदन इनसे परे हैं, कुछ लोगों ने यह प्रस्ताव किया है कि संवेदन का सीमा और काल के बन्धन में आ जाना ही सहजानुभूति है। पर, सहजानुभूतियाँ ऐसी भी होती हैं, जिनका काल और सीमा से कोई सम्बन्ध नहीं। एक दर्द की आह ! अपनी ही एक भावना ! ये भी कभी-कभी अन्तःकरण में प्रत्यक्ष-सी भाषित होती हैं। काव्य में वस्तु-व्यंजना भी होती है और भाव-व्यंजना भी। इनके अतिरिक्त सीमा और काल कुछ ऐसी सहजानुभूतियाँ भी होती हैं, जिनमें सीमा तो की निरपेक्षता होती है, पर काल नहीं, या काल होता है तो सीमा नहीं। एक सदा एक-सी रहनेवाली मूर्ति और एक बहते-बहते अनन्त में विलीन हो जानेवाली स्वर-सहरी, ऐसी ही सहजानुभूतियों की अभिव्यंजनाएँ हैं। फिर जहाँ ये होती भी हैं, वहाँ भी इनका ज्ञान पीछे विचार करने पर होता है। जब हम कोई कहानी या वीणा पर कोई रागिनी अपने हृदय से—एकाग्र चित्त से—सुनते हैं, तब क्या समय का कुछ भी भान होता है? स्पष्ट है कि सहजानुभूति न तो काल का आरोप करती है, न सीमा का। वह तो व्यक्तित्व, पृथक् सत्ता, विशिष्ट स्वरूप-मात्र प्रदान करती है।

हमारी प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान सापेक्ष और सीमित होता है। फ्रेंच तत्त्वज्ञानी डेकार्टे ने इन्द्रिय-ज्ञान को सर्वथा शुद्ध नहीं माना। उनके मतानुसार इन्द्रियाँ हमें धोखा भी देती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के व्यापार के लिए

१. Prescott : The Poetic Mind, p. 141.

२. Hobbes : Leviathan, Pt. I., Ch. II,

अनेक प्रतिबन्ध अनिवार्य रूप से लगे हुए हैं। दृष्टि के लिए प्रकाश और समीपता, श्रुति के लिए स्पष्टता तथा निकटता, इसी डेकार्टे के अनुसार प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों के साथ भी कोई-न-कोई इन्द्रिय-ज्ञान का प्रतिबन्ध लगा ही हुआ है। डेकार्टे ने सब बातों में सापेक्ष सन्देह को प्रधानता दी है, यह निश्चय ही अतिरंजित हो गया है। आत्मा में सन्देह-वृत्ति का अनुभव होने के कारण केवल उसी के अस्तित्व को शुद्ध माना है; क्योंकि सन्देह की प्रक्रिया के लिए भी किसी आधार का रहना आवश्यक है।

जीव की चेतन-शक्ति वनस्पति में प्रसुप्त, पशु के इन्द्रिय-ज्ञान में जागरित, तथा मनुष्य में पहुँचकर लौकिक विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। इन्द्रियज होने पर भी बुद्धि-तत्त्व को इन्द्रिय-ज्ञान से उच्च मानना पड़ेगा। अन्तःप्रवृत्ति की प्रयत्नशीलता से हमारे जीवन की सामान्य बुद्धि-तत्त्व और आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं; किन्तु हमारे भौतिक शरीर इन्द्रिय-ज्ञान के बाहर जो कुछ है, उसका बोध कराने में इन्द्रियाँ असमर्थ हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों के रूप, रस, शब्द, गन्ध तथा स्पर्श के अतिरिक्त किसी अन्य गुण को नहीं वतला सकतीं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच ही धर्मों की अवस्थिति से सृष्टि के समस्त गुण भी पाँच से अधिक नहीं माने जा सकते। यदि अधिक गुण भी हों, तो उनके ज्ञान के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं^१। सूर्य की किरणें किसी वस्तु पर प्रतिबिम्बित होकर जब हमारी आँखों में प्रविष्ट होती हैं, तब हमारी आत्मा को उस वस्तु के रूप का ज्ञान होता है। हमारी जिह्वा जब किसी वस्तु का आस्वादन करती है, तब उसके स्वाभाविक या कृत्रिम धर्म से हमारी आत्मा में जो एक प्रकार का

ज्ञानेन्द्रियों के पाँच
से अधिक
धर्म नहीं

-
१. पूर्वोक्त आचार्य योग-समाधि से अतीन्द्रिय ज्ञानवाद का प्रतिपादन करते हैं और पाश्चात्य आचार्य भी चेतन-शक्ति से बाहर विश्वातीत ज्ञान (Transcendent knowledge) के अस्तित्व को सोचने का दावा रखते हैं, परन्तु इसका सम्बन्ध इन्द्रियज ज्ञान के साथ नहीं रखा जा सकता।

विकार उत्पन्न होता है, उसे रस या स्वाद कहते हैं। किसी वस्तु के गर्भ से बाहर निकलकर जब सूक्ष्म परमाणु हमारी नाक के मज्जा-तन्तु से टकराकर आत्मा तक पहुँचते हैं, तब हमें उसकी गन्ध मिलती है। इसी तरह शेष इन्द्रियों के व्यापार भी हैं। ज्ञानेन्द्रियों से बाह्य जगत् का स्थूल ज्ञान होता है; परन्तु जो ज्ञान हमें होता है वह हमारी ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त नहीं। इसी कारण वे 'ज्ञाता' नहीं कहलाती। वे अन्तस् को बाह्य जगत् से ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञाता परिचय करानेवाली परिचारिकाएँ मात्र हैं। मनुष्य और पशु में इतनी दूर तक बहुत-कुछ समानता माननी पड़ती है। इससे आगे मनुष्य में जो मनस्तत्त्व है, वह पशु में नहीं। पशु को ज्ञानेन्द्रिय से प्रत्येक संस्कार का ज्ञान होता है, लेकिन अनेकता की एकता का बोध उसे नहीं हो सकता।

मन में केवल कल्पना करने की शक्ति है, निर्णय करने की क्षमता नहीं। इसीसे निश्चय करने के लिए बुद्धि-तत्त्व की आवश्यकता मानी जाती है। 'मनसस्तु पराबुद्धिः'—मन से बुद्धि श्रेष्ठतर है। बुद्धितत्त्व व्यवसायात्मक होने के कारण व्याकरणात्मक है। मन से भिन्न रखकर बुद्धि-तत्त्व मन और बुद्धि की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृत करने में कई अड़चनें हैं।
 के कार्य यदि मन किसी इन्द्रिय की प्रेरणा ही न करे, तो बुद्धि को निर्णय करने का सामान कहाँ से मिलेगा ! संकल्प, विकल्प, इच्छा, उत्साह, करुणा, क्रोध आदि मन के धर्म हैं। मन की सहायता के बिना बुद्धि केवल सत्ता के बल पर कुछ काम करने में समर्थ नहीं है। मनोवेग उत्पन्न होने पर ही काम करने की प्रवृत्ति होती है। जिसके मन में किसी प्रकार की इच्छा, उत्साह या वासना ही नहीं है वह केवल बुद्धि के आश्रय से कुछ नहीं कर सकता। इसी प्रकार बुद्धि से असहयोग कर मन कोई काम शुद्ध रूप से नहीं कर सकता। करुणा और क्रोध का अवसर निश्चित करना बुद्धि का ही धर्म है। जिस व्यक्ति पर हम अपना क्रोध व्यंजित कर रहे हैं, सम्भव है, वह हमारी करुणा का पात्र हो। बुद्धि से पृथक् होकर मनोवृत्तियाँ अन्धी हो जाती हैं^१।

अब पुनः श्रोत्र की सहजानुभूति और विचार पर प्रकाश डालना आवश्यक है। सहजानुभूति कला का बोध-पक्ष है और विचार तर्क का बोध-पक्ष। मन में कल्पना करने की शक्ति है और बुद्धि में

सहजानुभूति : विचार करने की क्षमता। सहजानुभूति से मन में कला का अनायास वस्तु-विशेष का चित्र अंकित हो जाता है। इसमें

बोध-पक्ष श्रम या गूढ़ कल्पना की अपेक्षा नहीं की जाती। साधारण-तया हमारी कल्पना में घोड़े के धड़ में ऊँट की लम्बी

गंदन दिखाई नहीं देती। ऐसा चित्र उपस्थित करने के लिए कल्पना को विचार का पल्ला पकड़ना पड़ जाता है। यदि विचार के साथ उसका

सम्बन्ध न भी किया जाय, तो भी उस चित्र को अंकित करने के लिए कल्पना को कुछ गूढ़ बनाना पड़ेगा। ऐसा करने पर वह सहजानुभूति का यथार्थ

चित्र ही न रहेगा। उदाहरण के लिए यह वर्णन लीजिए—“भैया ! अपनी सरला को आठ दिन हुए एक बच्चा हुआ है। मुझे वह

उदाहरण बहुत अच्छा लगता है। छोटा-सा सफेद-सफेद ! मन करता है, उसे दिन-रात प्यार करती रहूँ ! उसे पुचकारती हूँ,

बुलाती हूँ, तो वह डरकर देखने लगता है, कान खड़े कर लेता है। कैसा पागल है ! मैं कहती हूँ, नहीं, मैं तुझे पीटूँगी नहीं, प्यार करूँगी, तेरे साथ खेलूँगी। वह जैसे समझ जाता है और धीरे-धीरे मेरे पास आ जाता है।

मैं उसका मुन्नी-मुन्नी मुँह अपनी गोद में ले लेती हूँ।”—यह उक्ति एक छोटी बालिका की है। उसने अपने भाई के पास चिट्ठी लिखकर अपनी

गाय के नवजात बच्चे का कितना सुन्दर, स्वाभाविक और स्नेहपूर्ण वर्णन किया है ! इस वर्णन से बच्चे का जो चित्र मन में अंकित होता है, उसको

यदि इस रूप में रख दें कि ‘बच्चे सुन्दर होते हैं’, तो सहजानुभूति और विचार का प्रकृति-भेद स्पष्ट हो जाता है। इन दोनों में से पहले वर्णन में

बालिका के मन को आकर्षित करनेवाले एक विशेष बच्चे का व्यंजनापूर्ण लचीले शब्दों में भावमय चित्रण है, और दूसरी उक्ति में तत्सम्बन्धी सब ज्ञात तथ्यों के

सहजानुभूति आधार पर निर्मित एक सामान्य नियम का सीधे वाचक शब्दों में कथन। पाठक के चित्त पर पहले वर्णन का जैसा

और विचार का प्रभाव पड़ता है, वैसा दूसरी उक्ति का नहीं। कहना नहीं होगा, ये दोनों अन्तःकरण की एक ही क्रिया के

प्रकृति-भेद परिणाम नहीं। दोनों के प्रभाव में भी इसी कारण बहुत अन्तर है।

जहाँ एक वर्णन हमारे अन्तःकरण में एक विशेष बड़बड़े का स्वाभाविक तथा मनोरम चित्र उपस्थित कर हमारी सौन्दर्य-भावना को जाग्रत करता है, वहाँ दूसरी उक्ति हमारे पूर्व-संचित ज्ञान-भाण्डार में एक और तथ्य बढ़ाकर ही रह जाती है। जहाँ एक अपनी विमोहक भाव-भंगिमा से हमारे अन्तःकरण के कोमल भाव का स्पर्श करती है, वहाँ दूसरी हमारे मस्तिष्क के एक कोने में अपना स्थान ग्रहण करती है—किसी अवसर विम्ब-ग्रहण और पर काम आने के लिए। एक से हम विम्ब ग्रहण करते हैं अर्थ-ग्रहण और दूसरी से अर्थ-ग्रहण-माल। एक से सौन्दर्य-भावना जागरित होती है और दूसरी से ज्ञान-वृद्धि। इन्हीं दो शक्तियों के परिणाम-स्वरूप क्रमशः कला और विज्ञान का निर्माण होता है।

विचार से सहजानुभूति की स्वतन्त्रता या पृथक्ता के सम्बन्ध में इतना ही बतलाना शायद पर्याप्त न हो, अतः इस दृष्टि से भी इसके पार्थक्य पर विचार करना चाहिए। बहुधा सहजानुभूति को बोध या यथार्थ विषय-ग्रहण के अर्थ में ले लिया जाता है। वस्तुतः, सहजानुभूति एक प्रकार का बोध या विषय-ग्रहण ही है। कमरे में बैठकर मैं कुछ लिख रहा हूँ। सामने टेबुल, कागज, कलम है। दीवारों पर चित्र टंगे हैं। सामने की खिड़की से आम के पेड़ झलक रहे हैं। उनपर पक्षियों का कलरव हो रहा है। एक दल आता, तो दूसरा उड़कर कहीं दूर चला जाता है। यह एक प्रत्यक्ष दृश्य है और इसका बोध या विचार सहजानुभूति है; किन्तु इस दृश्य के अतिरिक्त मेरी कल्पना में जो चित्र कभी-कभी उपस्थित हो जाते हैं—जैसे, नदी के वक्षःस्थल पर तरंगें उठती और धिलीन होती हैं; मैं एक नाव में वास्तविक तथा बैठकर तिरता हुआ जा रहा हूँ; तट की रेत पर कुछ काल्पनिक लड़के खेल रहे हैं; कुछ पनिहारिणें घड़ों को सिर पर रखे सहजानुभूति तट की ओर आ रही हैं और कुछ जा रही हैं—यह मानसिक दृश्य भी सहजानुभूति है। वास्तविक तथा काल्पनिक का भेद, सहजानुभूति की प्रकृति के सम्बन्ध में, बाह्य या गौण है। प्रत्यक्ष या परोक्ष का प्रश्न यहाँ विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। यदि हम एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें, जिसने जीवन में पहली बार ही सहजानुभूति की हो, तो यह मालूम होगा कि उसे वस्तुतः यथार्थ की ही सहजानुभूति हुई होगी या जिस विषय को उसने ग्रहण किया होगा वह वास्तविक तथा प्रत्यक्ष के

अतिरिक्त कुछ दूसरा नहीं हो सकता। विकसित मानसिक शक्तिवाले ही अप्रत्यक्ष की सहजानुभूति कर सकते हैं।

प्रायः सब काव्यों में सहजानुभूति और विचार मिले हुए रहते हैं। भेद इतना ही है कि जो विचार इस प्रकार सहजानुभूति में आकर मिलते हैं, उनको अपनी स्वतन्त्र सत्ता का पूर्णतः परित्याग कर उसका ही सहजानुभूति एक अंग बनकर रहना पड़ता है, तिल-तण्डुल की तरह नहीं, और विचार का दूध-पानी की भाँति मिलकर। जो विचार कभी पृथक् समन्वय सत्तावाले थे, उनको सहजानुभूति का एक तत्त्व-मात्र बन जाना पड़ता है। दृष्टान्त के लिए, किसी नाटक के एक पात्र के मुँह से निकला हुआ सिद्धान्त या वचन वास्तव में किसी सिद्धान्त का निरूपण नहीं करता, प्रत्युत उस वचन से उस पात्र के उदाहरण व्यक्तिगत चरित्र-द्योतन का ही कार्य होता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के चतुर्थ अंक में जहाँ वन-विहंगी शकुन्तला के पति-गृह-गमन का दृश्य है, वहाँ कण्व ऋषि स्नेहवाष्प-गद्गद होकर कहते हैं :

‘यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया ।

कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ॥

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्याकसः ।

पोड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखं नवं ॥’

आश्रम से शकुन्तला के विदा होते समय अरण्यवासी तपस्वी कण्व का हृदय भी स्नेह से व्यथित हो गया, फिर गृहस्थ की कन्या जब पितृगृह से ससुराल के लिए बिछुड़ती है, तब उस पिता को कितनी वेदना होती होगी, यह सहज ही गम्य है। इस श्लोक से और चाहे जिन बातों का प्रतिपादन होता हो, पर सबसे मुख्य और स्पष्ट यह है कि कण्व ऋषि का हृदय बड़ा ही कोमल और भावप्रवण है। इससे कण्व के ही शील-स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है। शुद्ध काव्य या नाटक की उक्ति किसी सिद्धान्त के रूप में नहीं होती।

सहजानुभूति या सहजोपलब्ध ज्ञान व्यक्त की अन्तर्वृत्तियों पर निर्भर करता है। उसके लिए किसी दूसरे व्यक्ति की सहायता अपेक्षित नहीं। दूसरे की आँखें उसे देख नहीं सकतीं, अपने अन्तश्चक्षु से ही उसके स्वरूप का बोध

किया जा सकता है। सहजानुभूति बौद्धिक ज्ञान से स्वतन्त्र है। यह सम्भव है कि कुछ सहजानुभूतियों में तर्क-सिद्ध ज्ञान अन्तर्भूत रहें, सहजानुभूति की किन्तु ऐसी बहुत-सी सहजानुभूतियाँ हैं, जिनमें बौद्धिक विशेषता अन्तर्भावना के सम्मिश्रण की अनिवार्यता लक्षित नहीं होती। जब कोई कलाकार ज्योत्स्ना-धवलित रात्रि की सुपमा से विमुग्ध होता है, हरी-भरी पर्वत-श्रेणियों पर चलते-फिरते मेघ-खण्डों को देखकर जब उसका मन-मयूर मत्त होकर नाच उठता है, विहाग की तान सुनकर जब उसके हृदय की रागिनी विकल हो उठती है, तब ऐसी सहजानुभूतियों में बौद्धिक या तर्क-सिद्ध ज्ञान की छाया भी नहीं झलकती ! ऐसे अनेक उदाहरण बताये जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा सकता है कि सभ्य जीवन की सहजानुभूतियाँ तर्क या विचार से निरपेक्ष नहीं रह सकतीं। इसमें कुछ तथ्य अवश्य है, पर विचारणीय विषय यह है कि वस्तुतः क्या ऐसे तर्क या विचार अपने पूर्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रह सकते हैं ? कदापि नहीं। सहजानुभूति में मिलते ही किसी तर्क या विचार की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा नहीं रहती। वह सहजानुभूति में मिलकर निःशेष हो जाता है। जो पहले एक विचार था वह सहजानुभूति-मात्र रह जाता है। काव्य में उल्लिखित विचार को हम विचार के रूप में ग्रहण नहीं करते, प्रत्युत चरित्र या पात्र की सत्ता के रूप में ही ग्रहण करते हैं।

नीरस-से-नीरस वैज्ञानिक निबन्ध में सहजानुभूति मिलेगी और सरस-से-सरस काव्य में सैद्धान्तिक उक्तियों का अभाव न होगा, परन्तु एक का प्रभाव एक बड़े विचार का ही प्रभाव होगा और दूसरे का स्वतः सहजानुभूति पूर्ण सहजानुभूति का। इसके सम्बन्ध को इस प्रकार और प्रकट किया जा सकता है कि यह दो पदों की एक श्रेणी है, सैद्धान्तिक उक्तियाँ जिसमें पहला पद सहजानुभूति है और दूसरा पद विचार। पहला पद दूसरे के विना रह सकता है, किन्तु काव्य में दूसरे का अस्तित्व, उसकी स्थिति, उसका प्रसंग सर्वथा पहले पद पर अवलम्बित है। ऐसी सहजानुभूति या अभिव्यंजना हो सकती है, जिसमें किसी गूढ़ विचार का लेश न हो; जैसे, किसी ग्राम्यगीत की सरल और सरस स्वर-लहरी की सहजानुभूति, मृदंग के मन्द मृदु घोष की सहजानुभूति, विस्तृत वसुधातल पर छिटकी हुई शरच्चन्द्र की तरल ज्योत्स्ना की सहजानुभूति।

विना सहजानुभूति में परिवर्तित हुए हम किसी विचार का अनुभव नहीं कर सकते; जैसे, 'हाथी' का बोध एक ज्ञान है। इस ज्ञान की प्रतिष्ठा उसी समय हुई होगी, जब ठीक वैसा ही स्वरूप रखनेवाले अनेक पशुओं द्वारा प्रक्षिप्त प्रभावों के अपरोक्षानुभवों की तुलना कर उनका अनुभव के लिए एक पृथक् वर्ग निश्चित किया गया होगा और अब हम सहजानुभूति जब कभी इस शब्द—हाथी—को सुनकर इसके अभिधेय की अपेक्षा का अपने भीतर अनुभव—अर्थ-ग्रहण-मात्र नहीं—करना चाहते हैं, तब वह एक विशेष प्राणी की सहजानुभूति के रूप में ही हमारे सामने आता है।

उस बालिका की उक्ति की यदि फिर एक बार हम मीमांसा कर देखें, तो यह प्रश्न अनायास उपस्थित होगा कि उसका अन्तस् क्या है? प्रत्येक सहजानुभूति की तीन प्रक्रियाएँ हैं—वस्तु, आकृति और सहजानुभूति की अभिव्यंजना। कोई भी वस्तु हमारी सौन्दर्य-भावना को तीन प्रक्रियाएँ तबतक जागरित नहीं कर सकती, जबतक उसकी कोई आकृति स्थिर न हो जाय। उस भय-कम्पित नवजात बछड़े के 'मुन्नी-मुन्नी मुँह' का जो भाव-रंजित सर्वांगपूर्ण बिम्ब उस सरल बालिका के हृदय में बैठ गया था, वह चिट्ठी लिखते समय भी उसे प्रत्यक्ष-सा भासित हुआ था। क्रोचे ने सौन्दर्य-भावना को आकृति-प्रधान माना है। उन्होंने अभिव्यंजनावाद के प्रतिपादन में वस्तु पर जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे भारत के ही नहीं, यूरोप के भी अनेक समीक्षक सहमत नहीं हैं। यह प्रकट सत्य है कि जितना महत्त्व क्रोचे ने आकृति (Form) को दिया है^१, उतना वस्तु को नहीं। किन्तु, इतना करने पर भी उन्होंने वस्तु की उपेक्षा नहीं की, उसे समुचित महत्त्व दिया है।^२ वस्तु का भी अपना मूल्य है। उसके बिना आकृति होगी किस बात की! वस्तु के बिना एक

१. 'The Aesthetic fact is form, and nothing but form.'

—Benedetto Croce : Aesthetics, p. 16.

२. Benedetto Croce : Aesthetics, pp. 9-10.

अनुभूति से दूसरी अनुभूति में कुछ भिन्नता ही न होगी और सच तो यह है कि अनुभूति का आधार भी वस्तु को छोड़कर क्या हो सकता है। वस्तु का वस्तु के आधार पर ही हमारी आध्यात्मिक सत्ता को आकृति महत्त्व मिलती है। आकृति में हमारी आध्यात्मिक सत्ता का तत्त्व सम्मिलित रहने के कारण एक प्रकार की स्थिरता रहती है; क्योंकि वस्तु तो सदा परिवर्तनशील है। वस्तु की अवस्थिति से ही हमारी आध्यात्मिक क्रिया अपनी भावनात्मकता को छोड़कर मिश्रित और यथार्थ रूप में आती है।^१ वस्तु के अभाव में आकृति का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। वस्तु से निरपेक्ष रहने की क्षमता आकृति में नहीं है। काव्य में विम्ब-ग्रहण कराना ही कलाकार का मुख्य लक्ष्य है, आकृति की और यह आकृति में ही सम्भव है। मूल वस्तु में विशेषता रसोद्बोधन की शक्ति नहीं रहती। यदि वस्तु में ही रस-संचार की शक्ति रहती, तो एक ही कथानक पर रचे गये काव्यों में एक ही ढंग की रसानुभूति होती; पर ऐसा नहीं होता। वस्तु और आकृति में अन्यान्याश्रय-सम्बन्ध है। वस्तु से आकृति में इतनी ही विशेषता है कि वह रस-संचार के बहुत अधिक समीप है।

संवेदन और सहजानुभूति का सम्बन्ध भी विचारणीय है। शुद्ध संवेदन एक आकृतिहीन द्रव्य है, उसका कोई चित्र हमारे मानस में कल्पित नहीं हो सकता। द्रव्य अपने प्रत्याहार की स्थिति में निश्चेष्ट रहता है। हम उसका अनुभव करते हैं, पर उसे अभिव्यंजित नहीं कर सकते। द्रव्य या वस्तु के बिना मानव-ज्ञान या किसी प्रकार की क्रियाशीलता भी सम्भव नहीं। किन्तु केवल वस्तु या भाव से जीवन में पाशविक प्रकृति ही व्यक्त हो सकती है, आध्यात्मिकता नहीं, जो सच्ची मानवता है। कभी-कभी वस्तु और आकृति हम अपने अन्तःकरण की बातों को समझने की, उन्हें व्यक्त का अन्तर करने की चेष्टा करते हैं, पर व्यर्थ ! कुछ स्पष्ट नहीं हो सकता ! यही वह क्षण है जब हम द्रव्य या वस्तु तथा आकृति के स्पष्ट भेद को समझ सकते हैं। ये दोनों वस्तुतः

१. "Without matter, however our spiritual activity would not leave its abstraction to become concrete and real, this or that spiritual content, this or that definite intuition."

दो नहीं, एक ही है—एक अन्तस् है, दूसरा बाह्य । एक से दूसरे का विरोध नहीं होता, प्रत्युत अन्तस् बाह्य के साथ तादात्म्य ही होना चाहता है । वस्तु या भाव को जब इच्छित आकृति प्राप्त हो जाती है, तब वह स्वतः अभिव्यंजित हो जाती है । भाव के बिना हमारी आध्यात्मिक प्रक्रिया अपनी सूक्ष्मता का परित्याग कर मूर्त तथा वास्तविक कार्य-शक्ति के रूप में व्यक्त नहीं हो सकती !

भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्य के भाव-पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया है । इसी भाव-पक्ष की भित्ति पर रसवाद का जो निर्माण-कार्य हुआ है वह विश्वसाहित्य में अपने ढंग की एक ही वस्तु है ।

भाव-पक्ष और कल्पना-पक्ष पश्चिमीय साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य में कल्पना को विधायक अवयव माना और इसकी महत्ता का स्वर इतना ऊँचा किया कि भाव बिल्कुल ही गौण हो गया । भारतीय साहित्य-पद्धति में कल्पना-पक्ष छूटा नहीं है, वह विभाव और अनुभाव में सम्मिलित कर लिया गया है । क्रोचे ने कल्पना के बोध-पक्ष पर ही विशेष ध्यान दिया, भावों की सत्ता को उन्होंने विशेष आचार्य शुक्ल महत्त्व नहीं दिया है । आचार्य शुक्ल ने लिखा है—

के विचार “इटली-निवासी क्रोचे ने अपने ‘अभिव्यंजनाविवाद’ के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है । उन्होंने उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition)—प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत ज्ञान से भिन्न, केवल कल्पना में आई हुई वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञान-मात्र माना है । वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गये हैं । भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं माना है । पर न चाहते पर भी अभिव्यंजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्व रूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है । उससे वे अपना पीछा नहीं छुड़ा सके हैं ।”^१

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : ‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद’
(द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० १५५-५६)

वाह्य जगत् में हम जो कुछ देखते हैं, प्रायः उसी तरह का या उससे मिलता-जुलता दृश्य स्वप्न में भी देखते हैं। अधिकांशतः हम अपनी रागात्मिक वृत्तियों से प्रेरित दृश्य ही देखते हैं, अपने परिचित व्यक्तियों के स्वप्न का क्रिया-कलाप के ही दर्शन करते हैं, पर कभी-कभी इसके रहस्य विपरीत ऐसे व्यक्ति भी देख पड़ते हैं, जिनकी हमें कोई याद नहीं रहती या जिनसे हमारा कोई परिचय नहीं। यह एक सर्वविदित बात है कि हम नवीन और तीव्र मनोवेग-जनित अनुभवों को प्रायः बहुत कम स्वप्न में देखते हैं, किन्तु साधारण तथा तुच्छ घटनाएँ नई होने पर भी, और महत्त्वपूर्ण बातें पुरानी होने पर सहज ही स्वप्न में दिखाई पड़ती हैं^१। स्वप्न के तत्त्व साधारण उपकरणों से ही अपने अस्तित्व की रक्षा करते हैं। जिस बात को हम कभी कुछ महत्त्व भी नहीं देते, वही बड़े डील-डौल के साथ स्वप्न में चित्रित हो जाती है और हृदय की कोई बद्धमूल चिन्ता या कोई मनोरंजक घटना चित्रित ही नहीं होती^२। मनुष्य जन्मजात खण्डा है, स्वप्न में भी हमारी सृष्टि-क्रिया बन्द नहीं रहती। इतने पर भी इसे सहजानुभूति या अभिव्यंजना नहीं कह सकते। स्वप्न में सहजानुभूति हमारी वृत्तियाँ निष्क्रिय रहती हैं और सहजानुभूति या और अभिव्यंजना के लिए यह आवश्यक है कि वे सक्रिय रहकर स्वप्न में भेद हमारी आध्यात्मिक सत्ता के साथ मिल जायें। स्वप्न को, इसी कारण, कला में स्थान नहीं मिल सकता^३। फिर, इसकी गणना सहजानुभूति में भी सम्भव नहीं।

हमारी वासनाएँ, जो अतृप्त रहती हैं और दृश्य जगत् में जिनकी पूर्ति सम्भव नहीं, उनकी पूर्ति बहुधा स्वप्न में हो जाती है। जो व्यक्ति जितना

१. Havelock Ellis : The World of Dreams, p. 173.

२. Hildebrandt, quoted by Freud in his 'Interpretations of Dreams', p. 13.

३. भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे स्वप्न में भी काव्य-रचना करते थे। स्वर्गीय बाबू शिवनन्दन सहाय ने, उनके जीवन-चरित में, इसके उदाहरण भी दिये हैं।

कल्पनाशील होता है वह स्वप्न में भी वैसे ही अनोखे दृश्य देखा करता है।

स्वप्न का अन्य कोई प्रभाव चाहे हमारे चित्त पर न पड़े, स्वप्न का परन्तु उसके मनोवैज्ञानिक प्रभाव से हम अपनी रक्षा नहीं मनोवैज्ञानिक कर सकते। जब हम स्वप्न में कोई भयानक दृश्य देखते हैं तब प्रभाव नींद टूटने पर यह जानते देर नहीं लगती कि हमारी स्वप्नगत कल्पना के डरावने जीव निरे नकली हैं, यद्यपि उनसे उत्पन्न भय एक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक अनुभव है।^१

सहजानुभूति को अनुभूतिवाद से सम्बद्ध करने में हमें विशेष आपत्ति नहीं मालूम पड़ती। दोनों को हम एक भी नहीं मान सकते, किन्तु दोनों में जो समानता है उसी से दोनों को सम्बद्ध किया जा सकता है। सहजानुभूति और अनुभूति में विचार के रूप में हमारा ज्ञान संचित रहता है अनुभूतिवाद और सहजानुभूति में उसी ज्ञान का विशेष चित्र कल्पना में स्पष्ट हो जाता है। सहजानुभूति को क्रीचे ने ज्ञान का एक खण्ड माना है, परन्तु इसे ज्ञान के बदले उसका एक आवश्यक प्रतिबन्ध मानना ही समुचित है; क्योंकि स्वतः इससे ज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।^२ बाह्य जगत् में हम जो कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं, उन्हीं की अनुभूति होती है। अनुभूतिवादी के लिए हमारी चेतनता में जो कुछ वर्तमान है वही हमारे ज्ञान की वस्तु है। जिस वस्तु का अस्तित्व हमारी चेतनता में नहीं है; उसकी सत्ता अन्यत्र भी अस्वीकृत की जा सकती है। जिस वस्तु को हमने कभी देखा ही नहीं, जो कभी हमारी कल्पना में आई नहीं, उसका ज्ञान मस्तिष्क की प्रचण्ड शक्ति से भी प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान का उपादान दृश्य जगत् से ही मिलता है, इससे भिन्न ज्ञान की सृष्टि सम्भव नहीं। अनुभूतिवादी के लिए बाह्य जगत् का विकार ही ज्ञान का आधार है, किन्तु इसमें भी तर्क के लिए गुंजाइश है। बाह्य जगत् के बोध का अनुभव कर्त्ता के ऊपर तज्जनित प्रभाव से होता है; अतः कर्त्ता को बाह्य जगत् का नहीं, बल्कि

१. "When we awake we know at once that the terrifying creatures of our imagination are purely fictitious, though the fear to which they gave rise was a genuine psychological experience."—Jastrow : The Subconscious, p. 226.

२. Prof. N. O. Lossky : The Intuitive Basis of Knowledge (Preface).

उसके प्रभाव का अनुभव होता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि बाह्य जगत् का ज्ञान बहुधा प्रभाव के ऊपर निर्भर है। यदि प्रभाव को केवल मस्तिष्क की ज्ञान-सम्बन्धी प्रतिक्रिया ही मानें, तो विशेष जानकारी रहने पर भी उसके आकस्मिक सम्बन्ध का पता लगाना कठिन है।

एक बार पुनः विषय को स्पष्ट करने के लिए स्वप्न की मीमांसा करना उचित है। कभी-कभी हम स्वप्न में अद्भुत और कल्पनातीत दृश्य देखते हैं, किन्तु वस्तु-विश्लेषण से पता चलेगा कि स्वप्नगत दृश्य का स्वप्नगत वैचित्र्य बीज हमारे मस्तिष्क में पहले से ही प्रस्तुत था। स्वप्न के कारण आकाश में हम खूब उड़ते हैं, विदेश या देश के अपरिचित प्रान्त में भ्रमण करते हैं। इनमें ऐसी कोई बात नहीं, जिसे हम बाह्य जगत् से अयुक्त पाते हों। पक्षियों को उड़ते देखकर स्वभावतः हम अपने उड़ने की कल्पना करते हैं, अपरिचित प्रान्त में भ्रमण करने का कारण भी असम्भव नहीं है। कहाँ क्या है, यह हम जाने रहते हैं; भ्रमण तो यदा-कदा करते ही रहते हैं। दोनों के समन्वय से स्वप्न और कला एक नवीन कल्पना की सृष्टि हो जाती है। कुण्ठित कल्पना-वाले प्रायः स्वप्न में भी स्थूल दृश्य ही देखा करते हैं। यदि कोई व्यक्ति सदा अनोखे स्वप्न ही देखा करे, तो उसे इलाज कराने की जरूरत पड़ेगी। उस प्रकार के दृश्य सहजानुभूति के चित्र नहीं माने जा सकते। जबतक हमारी आत्मा के साथ उन दृश्यों का सक्रिय सामंजस्य नहीं रहेगा, तबतक कला की दृष्टि से उनका मूल निश्चित करना व्यर्थ ही है।

हम बाह्य प्रभाव के आधार पर सहजानुभूति का निर्माण करते हैं। स्वप्न से प्रभावित होकर सहजानुभूति की सच्ची उद्भासना नहीं हो सकती। दूसरी ओर, इसी तरह हम बहुत-से कवियों को देखते हैं कि वे अपनी रचनाओं में ऊँचे-ऊँचे विचार के द्योतक शब्दाडम्बर तथा विचित्र वस्तु-आध्यात्मिक योजनाएँ रखकर भी मानव-हृदय में स्थान नहीं पा सकते। सत्ता का कला में इसका कारण यही है कि वे अपनी रचनाओं को आध्यात्मिक समन्वय न करने सत्ता के साथ मिलने नहीं देते। आत्मा की बातें आत्मा का परिणाम ही समझ सकती है और मस्तिष्क के पचड़े मस्तिष्क के लिए ही होते हैं। गणित के प्रश्नों की योजना से बहुधा आत्मा का सम्पर्क नहीं रहता। कविवर बिहारीलाल के मत से बिन्दी पड़ने से

गणितशास्त्र के अनुसार दस गुना मूल्य बढ़ता है, पर 'तियलिलार' में एक बिन्दी पड़ने से अगणित 'उदोत' बढ़ जाता है। इस चमत्कार और व्यतिरेक के लिए हम कविवर बिहारीलाल की प्रशंसा करते हैं, किन्तु हमारे मन में उस सुन्दरी नायिका की मुख-छवि की अगणित उज्ज्वलता का चित्र ही स्पष्ट नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास ने भी भगवान् रामचन्द्र के सौन्दर्य-वर्णन में एक साथ करोड़ों कामदेवों को ला पटका है^१। एक उदाहरण के लिए देखिए :

राम काम-सत कोटि सुभग तन, दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन ।

जो वस्तु स्वयं सुन्दर है, उसकी करोड़गुनी सन्दरता का चित्र किसी की कल्पना में भी नहीं आ सकता; फिर इस प्रकार का चमत्कार-प्रदर्शन रस-परिपाक में सहायक न होकर हमारे आश्चर्य और कौतुक को ही उत्तेजित करता है। जो चित्र हमारी सहजानुभूति—कल्पना के बोधपक्ष—में नहीं उतर सकता, जो हमारी आध्यात्मिक सत्ता के साथ सामंजस्य नहीं रखता, वह निश्चय ही काव्य का आधार नहीं बन सकता। प्रत्येक अंग की सत्ता और महत्ता अलग-अलग है। सौन्दर्य की व्यंजना संश्लेषणात्मक काव्य में गणित होती है, उसमें प्रधान और गौण का विचार ही अनावश्यक है।

का संयोग कितने कवियों ने काव्य के साथ गणित का ऐसा सम्मिश्रण किया है कि बिना इस शास्त्र में पारंगत हुए उनकी पहेलियाँ समझ में आ ही नहीं सकतीं। रीतिकाल के कवियों को कुछ ऐसी धुन सवार हुई कि किसी वर्णन को जबतक वे अति तक नहीं पहुँचाते थे, तबतक उनके हाथों से कलम ही न छूटती थी। एक अँगरेज समालोचक ने ऐसे कवियों को 'Intellectual Counters' की उपाधि दी है। कहीं ज्योनार का वर्णन है तो समूचे पाकशास्त्र की विषय-सूची उतारकर रख दी; कहीं युद्ध का समागम है तो सेना की इतनी बड़ी भीड़ इकट्ठी कर दी कि वहाँ उसके खड़े रहने की जगह भी नहीं मिल सकती। इसी प्रकार, ऐसे अनेक वर्णन हैं, जिनके चित्र अंकित करने के पहले कल्पना में उपस्थित ही नहीं किये गये। भारतीय साहित्य की पद्धति के अनुसार भी देखा जाय तो वैसे चित्र विशुद्ध भावों की उपज नहीं। यदि वे चित्र कल्पना में उदित होकर कवियों की आध्यात्मिक

१. इस सम्बन्ध की विशेष विवेचना अलंकार और प्रभाववाले अध्याय में की गई है। यहाँ इसका संकेत-मात्र कर दिया गया है।

सत्ता के अंग बन जाते, तो वे निश्चय ही बड़े प्रभावोत्पादक मिष्ट होते। सच्चे काव्य के लिए संवेदन और प्रभाव को तो सहजानुभूति में परिणत करना ही पड़ता है, पहले की प्रस्तुत शब्द-योजना के विचार को भी फिर से प्रभाव के रूप में रखकर उसका अंग बना लेना पड़ता है। काव्य और काव्याभास का यही भेद है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि हमारे पास सहजानुभूतियाँ तो बहुत हैं, पर हम उन्हें अंकित नहीं कर सकते। ऐसे कथन में सत्य का लेश भी नहीं रहता। यदि व्यक्त करने को कुछ है तो चाहे जैसे हो, वह निश्चय ही व्यक्त होगा। वैसे कहनेवाले का, सम्भव है, निरीक्षण विणश हो, वे उसे अनुभव भी करते हों, किन्तु उनके प्रति अत्यन्त सहजानुभूति रखते हुए भी कहना पड़ता है कि उन्हें

सहजानुभूति नहीं होती। इस भ्रम का कारण यही है कि वे सहजानुभूति के सम्बन्ध में इन्द्रिय-बोध और संवेदन का आवश्यकता से अधिक मूल्य आँकते हैं। यह मानते हैं कि इन्द्रिय-बोध और संवेदन के बिना सहजानुभूति नहीं हो सकती। बिना कुछ देखे-सुने और बिना

उसके प्रति कुछ रति हुए अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, किन्तु सहजानुभूति के अभाव में भी इन्द्रिय-बोध और संवेदन का अस्तित्व सम्भव है। हमें अपने प्रिय-से-प्रिय आत्मीय जन की भी उतनी सहजानुभूति नहीं रहती जितनी हम समझते हैं। हमारे अन्तःकरण में उसकी आकृति के कुछ अत्यन्त बाह्य तत्त्व ही रहते हैं, जिनसे हमारी इन्द्रियाँ परिचित रहती हैं, पर उनको यदि चित्रपट पर अंकित किया जाय तो अधिक-से-अधिक एक व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत हो सकेगा। सुन्दर चित्र तो तभी बनेगा, जब हम अपनी कल्पना से उन चित्र-रेखाओं को भावों के अनुकूल रंगों से रँग देंगे। इन्द्रिय-बोध और संवेदन को सहजानुभूति में परिणत करने की योग्यता को ही प्रतिभा, शक्ति, और न जाने किन-किन संज्ञाओं से पुकारा गया है। बोध के बाद ही बोधि की अवस्था आती है। जहाँ मस्तिष्क की शक्ति का अन्त हो जाता है वहीं से प्रतिभा का आरम्भ होता है^१। सहजानुभूति का आरम्भ भी ठीक संवेदन के बाद हो जाता है सही, पर दोनों के बीच कोई आम रास्ता नहीं है। जिन लोगों ने कलाकारों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है, उनका भी कहना है कि एक बार किसी

१. Sir L. Stephen : House in a Library, Vol. III, p. 5

व्यक्ति को देख चुकने पर जब किसी कलाकार ने उसकी एक सच्ची सहजानुभूति अपने अन्तःकरण में उपस्थित करने का प्रयास किया, तब उसे मालूम हुआ कि जो इन्द्रिय-बोध—प्रत्यक्ष ज्ञान—उस समय इतना सजीव, इतना स्पष्ट था, वह वास्तव में कुछ नहीं था। जिसका चित्र अंकित करना रहता है वह व्यक्ति कलाकार के लिए एक धुँधले संसार की तरह रहता है, उसको अपनी प्रतिभा की किरणों से ही प्रकाशित करना पड़ता है।

सहजानुभूति एक बार आ जाने पर अभिव्यंजना का होना तो आवश्यक है ही, इतना भी नहीं हो सकता कि सहजानुभूति पहले और अभिव्यंजना पीछे आये। वे दोनों साथ-साथ आती हैं। जो पहले आता है वह संवेदन, भाव या और कुछ होता है। प्रत्येक व्यक्ति बाहर से प्रभावित होकर अपने भीतर एक प्रकाश का अनुभव करता है; किन्तु उसी सीमा तक जहाँ सहजानुभूति और तब वस्तु को आकृति देने की उसकी क्षमता है। इस प्रकार भाव और प्रभाव शब्दों के रूप में आत्मा के गूढ़ अभिव्यंजना की प्रवेश से विचार-शक्ति की स्पष्टता में प्रकट होते हैं।

इस एकजातीय क्रिया में सहजानुभूति को अभिव्यंजना से भिन्न बताना असम्भव है। एक के साथ दूसरी एक ही समय में उत्पन्न होती है; क्योंकि दोनों दो नहीं, बल्कि एक ही हैं^१। यह भले ही हो सकता है कि हम इस अभिव्यंजना को लेखनी अथवा तूलिका लेकर अंकित करने न बैठें।

इस प्रकार, सहजानुभूति का विचार तथा संवेदन के साथ सम्बन्ध और उसकी निरंकुश स्वतन्त्रता का निरूपण हो गया। कुछ लोगों को यह भ्रम है कि

१. "Every one can experience the internal illumination which follows upon his success in formulating to himself his impressions and feelings, but only so far as he is able to formulate them. Feelings or impressions, then, pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit. It is impossible to distinguish intuition from expression in this cognitive process, the one appears with the other at the same instant, because they are not two, but one.

—Benedetto Croce : Aesthetics, p. 9

केवल इन्द्रिय-बोध—प्रत्यक्ष दर्शन—की ही सहजानुभूति हो सकती है, लेकिन वे लोग यह भूल जाते हैं कि ऐसी सहजानुभूति भी होती है, सहजानुभूति के जिसमें उक्त इन्द्रिय-बोध की सर्वथा भिन्न और अवास्तविक लिए यथार्थ और योजना प्रस्तुत होती है। यथार्थ और यथार्थवाद अयथार्थ आधार में अन्तर है। यथार्थ सत्य को कहते हैं, किन्तु यथार्थवाद सत्य की सम्भावना के आधार पर स्थित रहता है। जैसे, हम अपने बचपन की बातें भूल गये हैं, परन्तु हम फिर से अपने को एक छोटे बालक के रूप में देखते हैं—दरवाजे के सामने हरी-हरी घासों पर लकड़ी का घोड़ा बनाकर हम उछल-कूद रहे हैं और बाहर से दादाजी घर आते हैं। उनको दरवाजे पर आते देखते ही हम अपना लकड़ी का घोड़ा पटक देते हैं और उनके हाथ बढ़ाते ही हम उछलकर उनकी गोद से पहुँचकर लम्बी-लम्बी साँसें भरने लगते हैं। ऐसी या इस प्रकार की अनेक कल्पनाएँ की जा सकती हैं, जिनका आधार वास्तविक हो सकता है। यदि हम विकासवाद को भूलकर मानव-मस्तिष्क की उस अवस्था में कल्पना करें, जब उसे पहले-पहल सहजानुभूति हुई होगी, तब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह वास्तविक इन्द्रिय-बोध के आधार पर ही हुई होगी। हमारा यथार्थता का ज्ञान वास्तविक और काल्पनिक, प्रत्यक्ष और परोक्ष चित्रों के एक अत्यन्त ब्रह्म भेद पर निर्भर है। उनमें कोई प्राकृतिक भेद नहीं। इन्द्रिय-बोध में यथार्थ और अयथार्थ का भेद मानने से अवश्य ही कुछ लाभ है, पर सहजानुभूति की प्रकृति—उसका स्वरूप—इससे परे है। वह न यथार्थ है और न अयथार्थ। जहाँ सब कुछ प्रत्यक्ष की भाँति प्रतीत होता है, वहाँ विशेष रूप से यथार्थ कुछ भी नहीं होता—यथार्थ-अयथार्थ का भेद ही नहीं रह जाता। यदि ऐसा न होता, तो इतिहास को छोड़कर काव्य की कोई रचना ही नहीं हो सकती।



दूसरा अध्याय

अभिव्यंजना और कला

बाह्य जगत् के दृश्यों को देखकर हमारे चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है, उससे प्रभावित होकर हम अपने अन्तर्जगत् में कल्पना की सहायता से उसको व्यंजित करते हैं। मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपने भाव के

आधिक्य—प्रभाव—को बाहर प्रकाशित करने के लिए सदा प्रभाव की लालायित रहता है। जिस वस्तु से वह स्वयं प्रभावित है अभिव्यक्ति उसीसे वह दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है।

चलते-फिरते जब कभी हम कोई अनूठी चीज देखते हैं और उससे जब हमारे हृदय में आनन्द या विस्मय का भाव भर जाता है, तब अपने हृदय के भीतर उस समस्त भाव को न रखकर हम अपने साथियों को भी उस ओर इंगित कर आनन्द या विस्मय के भाव से भर देना चाहते हैं। दुःख में भी हमारी यही प्रवृत्ति रहती है। जब हम दुःखी रहते हैं, तब दूसरों को सुखी देखने का धैर्य कम ही रखते हैं। अपने पीछे हम चराचर विश्व को भी अनुकम्पित देखना चाहते हैं। मनुष्य की यही प्रकृति शेष सृष्टि के साथ एकरूपता—जातीयता—का सम्बन्ध स्थिर करती है।

हमारे मन में जो कुछ है उसको दबाकर अव्यक्त रखना बड़ी शक्ति का काम है। स्वभावानुसार उसे अभिव्यक्त करने पर ही हमें शान्ति मिलती है। अभिव्यक्त करने का ढंग बहुत-कुछ हमारी प्रतिभा, योग्यता तथा शिक्षा पर निर्भर करता है। जो मूर्ख है, अरसिक है, उसके हृदय अभिव्यक्ति और में न तो भाव के लिए जगह है और न मन में कल्पना के मानव-प्रकृति लिए स्थान। फिर उसके लिए अभिव्यक्ति कोई चीज ही नहीं। सुनी-सुनाई बात को अविकल रूप से तोते की तरह कह देना कुछ और है और अपनी ओर से उसी बात को एक नई शैली में ढालकर कहना कुछ और ही प्रभाव रखता है। एक पाश्चात्य

विद्वान् के मतानुसार झूठ बोलने में मौलिकता की शक्ति बढ़ती है। सत्यासत्य के निर्णय का भार कर्तव्यशास्त्र के ऊपर है। यहाँ इसकी भीमांसा का स्थान नहीं है। हम असत्य के सहारे या मनगढ़न्त बातों के सत्यासत्य आधार पर व्यञ्जित प्रभाव की चर्चा करना नहीं चाहते। सत्य का भेद के प्रभाव में जो स्थायित्व है, वह असत्य में सम्भावित भी नहीं।

इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि प्रत्येक असत्य में थोड़ा-सा भी सत्य का तत्त्व मिला ही रहता है। यदि ऐसा न रहे तो थोड़ी देर के लिए भी लोगों को असत्य पर विश्वास न जमे, किन्तु सदा ऐसा नहीं होता। झूठी बात को भी हम सच्ची मानकर उसपर विश्वास कर लेते हैं। झूठ बोलकर हम दूसरों को धोखा देने की इच्छा रखते हैं, पर यह नहीं चाहते कि दूसरे भी झूठ बोलकर हमें धोखा दें। यदि झूठ बोलने का नियम ठीक होता, तो सभी झूठ ही बोलते और तब कोई एक-दूसरे पर विश्वास ही न रखता। फिर हमारे झूठ बोलने का कुछ प्रयोजन ही न रहता। इससे यह स्पष्ट है कि झूठ बोलने की इच्छा होना एक अपवाद है। सत्य सदा असत्य का विरोध ही करता है। अन्तर इतना ही है कि विज्ञान में हम निरपेक्ष सत्य की जिज्ञासा करते हैं, पर काव्य में हम अपनी कल्पना और भावना के उत्कर्ष के लिए सत्य को अविकल रूप में ग्रहण नहीं कर सकते।

ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि प्रत्येक कला का प्राकृत सत्य पूर्वरूप विज्ञानमय है और प्रत्येक विज्ञान का उत्तररूप और कलामय। स्थूलरूप से यही कहा जा सकता है कि काव्य का काव्यगत सत्य सत्य इतिहास का सत्य नहीं हो सकता। काव्य का उद्देश्य हमारे चित्त पर अभीष्ट प्रभाव डालना होता है और इतिहास हमारे लिए ज्ञान-भाण्डार का द्वार खोलता है। इसी कारण काव्य-विधान के लिए हम निरलंकृत अवस्था में सत्य को बाहर नहीं निकालते। जिस प्रकार कोई अभिनेत्री दर्शकों के मनोरंजन के लिए खूब सुसज्जित होकर रंगभूमि पर उतरती है, उसी प्रकार कवि का सत्य भी पाठकों के ऊपर प्रभाव डालने के निमित्त भावनाओं, कल्पनाओं और बहुवर्णों से संश्लिष्ट होकर प्रकाशित होता है।

काव्य में सत्य की एक भिन्न परिभाषा और प्रयोजन है। अपेक्षा और औचित्य से मिलता-जुलता जो हो, वह भी काव्य में सत्य ही है। अभिज्ञान-

शाकुन्तलम् के अन्तिम अंक में यदि दुष्यन्त और शकुन्तला के मिलन-व्यापार की योजना न होती तो समस्त नाटक ही असत्य हो जाता।

काव्यगत सत्य काव्यगत सत्य के लिए यह सर्वथा अपेक्षित है कि वह आन्तरिक की प्रकृति आवश्यकता और औचित्य-विचार की उपेक्षा न करे। पाठकों

के आशा-क्रम पर व्याघात पहुँचना सत्य के ऊपर आघात करना ही है। आशा-क्रम का विवेचन दो दृष्टियों से किया जा सकता है।

पार्श्वात्त्य दृष्टि में घटना और चमत्कार का इतना बाहुल्य रहता है कि यह कहना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है कि आगे की घटना किस ओर मुड़ेगी। पाठकों को असमंजस में डाल रखना वहाँ के काव्य का प्रधान लक्ष्य रहता है।

भारतीय दृष्टि में काव्य के लिए इतना असमंजस और घटना-चक्र अपेक्षित नहीं। रस-परिपाक के लिए भावों के जितने घात-प्रतिघातों की आवश्यकता रहती है वही यहाँ यथेष्ट समझी जाती है। यदि रामायण में रावण का निधन न हो, महाभारत में कौरवों का पराभव न हो, तो दोनों महाकाव्य भारतीय दृष्टि से ही असत्य समझे जायेंगे। काव्यगत सत्य के साथ औचित्य का जो सम्बन्ध है वह कण्व ऋषि के उदाहरण से स्पष्ट हो

जायगा। पिछले अध्याय में हम अभिज्ञान शाकुन्तलम् के काव्यगत सत्य चतुर्थ अंक का एक श्लोक उद्धृत कर चुके हैं। शकुन्तला का औचित्य की विदाई के कारण कण्व ऋषि वाष्प-गद्गद हो रहे हैं।

कवि ने इस स्थल पर सत्य की रक्षा बहुत सुन्दर ढंग से की है। कण्व एक ऋषि हैं, यह सत्य है; ऋषि सांसारिक माया-मोह से विरत रहते हैं, यह भी सत्य है। फिर दूसरे पक्ष में शकुन्तला कण्व ऋषि की पालिता कन्या है, यह सत्य है; कन्या की विदाई के समय पिता का हृदय स्नेहाधिक्य के कारण उमड़ आता है, यह भी सत्य है। दोनों पक्षों के समन्वय से औचित्य और सत्य का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। यदि कण्व ऋषि शकुन्तला की विदाई के कारण प्राकृत जन की तरह छाती पीट-पीटकर रोते तो उनका ऋषित्व असत्य हो जाता और यदि वे इस करुणाजनक दृश्य को देखकर भी एकान्त रूप से निष्कम्प रहते, स्नेहाद्र्रता न दिखाते, तो यह असत्य हो जाता कि उन्होंने शकुन्तला को पाला-पोसा है और उनकी छाती के भीतर मनुष्य का एक हृदय भी स्पन्दित हो रहा है। यदि काव्यकार अपने काव्य में औचित्य का कुछ विचार ही न रखे तो पाठक या श्रोता को रसानुभूति हो ही नहीं

सकती। काव्य का यह औचित्य है और इसी औचित्य के कारण सत्य का विधान हुआ है।

जो दृश्य या तथ्य जैसा है उसको ठीक वैसा ही व्यक्त करना काव्य नहीं है। यूरोप का एक साहित्य-सम्प्रदाय कला को प्रकृति की अनुकृति मानता है। इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी भूल यही है कि कला को प्रकृति की ठीक अनुकृति मानने पर उसमें कलाकार की आध्यात्मिक सत्ता का मेल नहीं रह सकता। प्रकृति में जो प्रत्यक्ष है वही काव्य में परोक्ष हो जाता है; अतएव,

इस परोक्ष को फिर से प्रत्यक्ष बनाने के लिए सामान्य कला प्रकृति की अनुकृति से काम नहीं चल सकता। जो अपना भाव है अनुकृति है— उसको दूसरे का भी भाव बनाने के लिए साधारण ढंग से

समीक्षा

कृतकार्यता नहीं हो सकती। यदि इस कथन का यह तात्पर्य लिया जाय कि कलाकार का कर्त्तव्य प्राकृतिक पदार्थों की ऐसी प्रतिकृतियाँ प्रस्तुत करना है, जो हमारी इन्द्रियों पर मूल पदार्थों के सदृश ही प्रभाव डालें, जिन्हें देखकर हमें चकित होना पड़े तो यह हमारे गिद्धान्त के ही विरुद्ध न होगा, वल्कि कला के स्वरूप को भी बहुत कुछ विकृत कर देगा। कला में चमत्कार और भ्रम के लिए कोई स्थान नहीं है। मनुष्य की शक्ति प्रकृति की बराबरी नहीं कर सकती, अतः उसका सफल अनुकरण ही कैसे हो सकता है ! जगत् के सत्य में हमारी प्रतीति और संवेदना को उभारने की बड़ी शक्ति रहती है, उसके प्रमाण हमारी इन्द्रियों के सम्मुख वर्त्तमान रहते हैं। काव्य में हमें इसी शक्ति की उद्भावना करनी पड़ती है। यदि कला प्रकृति की अनुकृति हो तो जो कुछ जगत् में है उसको अविकल रूप से कह देना ही काव्य हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता। इतिहास से काव्य का काम नहीं चल सकता। प्राकृत पर कृत्रिमता का थोड़ा-बहुत बोझ लादा जाता है, परन्तु यह सत्य के अनुरोध से ही करना पड़ता है। कृत्रिमता का यह बोझ हमें सत्य तक पहुँचाने में बहुत सहायता देता है। त्रिनेत्र के रोप से कामदेव के भस्मीभूत हो जाने पर पति ने यथार्थ में कितना विलाप किया, इसका हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, किन्तु महाकवि कालिदास ने रति-विलाप का जो करुण तथा वैदग्ध्यपूर्ण वर्णन किया है, उससे क्या हमारे हृदय की रागिनी विकल नहीं हो जाती ? क्या उस वर्णन की असत्यता हमारी प्रतीति में बाधक होती है ? यही प्राकृत सत्य और काव्यगत सत्य का अन्तर है। काव्य में जो

सत्य निहित रहता है वह प्राकृत सत्य से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। महाकवि कालिदास ने कला के अनुरोध से प्राकृत पर थोड़ा-बहुत असत्य का बोझ अवश्य लादा होगा, पर अब वह सत्य में इतना सन्निहित हो गया है कि उसके लिए सत्य से भिन्न कोई दूसरी संज्ञा हो ही नहीं सकती। कला को प्रकृति की अनुकृति मानने से उसकी सजीवता नष्ट हो जाती है और सजीवता नष्ट हो जाने पर कला रह ही नहीं जाती।

कलावादियों का एक दूसरा सम्प्रदाय 'कला कला के लिए' ही मानता है। इस सम्प्रदाय का जन्म तथा विकास यूरोप के फ्रेंच-साहित्य में हुआ है। भारतवर्ष में इस सम्प्रदाय के पोषक कवीन्द्र रवीन्द्र ठाकुर कहे जाते हैं। भारतवर्ष की तरह यूरोप में भी 'कला कला के लिए'—समीक्षा नहीं है। संसार की प्रत्येक वस्तु का कुछ-न-कुछ उपयोग है, उसका कोई-न-कोई व्यापक लक्ष्य होता है। जिस किसी वस्तु का सम्बन्ध मानव-जीवन के साथ स्थापित किया जायगा उसका अवश्य ही कुछ उद्देश्य बताना पड़ेगा—वह उद्देश्य चाहे साधारण हो या असाधारण। कला का उद्देश्य यदि मानव-समाज से हटाकर कला ही रखा जाय तो कलाकार को कला-निर्माण में कैसे रुचि होगी, यह विचारने की बात है। जिस वस्तु का कोई उद्देश्य नहीं, जिसका कुछ उपयोग नहीं, उसका निर्माण ही कोई क्यों करे ! काव्य-कला का भी उद्देश्य होता है। मनुष्य के सभी काम किसी उद्देश्य से ही होते हैं। बाहर से कुछ काम भले ही व्यर्थ और निरुद्दिष्ट जँचें, परन्तु उनके मूल में कोई उपयोगी प्रवृत्ति ही काम करती है। बच्चे का अनुकरण से कागज या स्लेट पर अण्टसण्ट घिसना भी उपयोग से खाली नहीं। इससे बच्चे की प्रवृत्ति लिखने की ओर बढ़ने के साथ ही उसका मन-बहलाव भी होता है। फिर कला-जैसी उपयोगी वस्तु को उद्देश्यहीन बताना कितनी असंगत बात है !

'कला कला के लिए है', इसका तात्पर्य समझने में बहुत ही वाग्विस्तार करना पड़ा है। इसका तात्पर्य कला की उद्देश्यहीनता से नहीं है। इस कला-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने कला के स्वरूप को व्यर्थ के वाद-विवाद से इतना प्रच्छन्न कर दिया है कि उसका यथार्थ रूप सहज ही स्पष्ट नहीं हो सकता। स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी कला की उद्देश्यहीनता उस रूप में स्वीकृत नहीं की है

जिस रूप में कलावादी प्रायः बोला करते हैं। उनका विचार, इस सम्बन्ध में, यही है कि कला जिस आकृति का सहारा लेती है उससे वह अलग नहीं हो सकती। कहने का भाव इतना ही है कि कवि ने मौलिक रूप से जिस पदावली का प्रयोग किया है उसी में उसकी कला निहित है। उसके स्वरूप को समझने के लिए यदि अन्य पदावली की योजना की जायगी, तो कला का रूप विकृत हो जायगा। रवि दाबू ने लिखा है : 'ज्ञान के विषय को लेकर नाना प्रकार के लोगों में नाना भाषाओं द्वारा अनेक प्रकार से प्रचारित किया जा सकता है—इसी प्रकार उसका उद्देश्य यथार्थ रूप से सफल हुआ है, किन्तु भावों के विषय में यह बात नहीं हो सकती। वे जिस मूर्ति का सहारा लेते हैं उससे फिर अलग नहीं हो सकते ?'^१

यह स्पष्ट है कि कोई कलाकार 'स्वान्तःमुखाय' कला का निर्माण नहीं करता। इतना हो सकता है कि जिस दिशा में उसकी प्रवृत्ति हो उसी में वह कला का विधान करे। जीवन को छोड़कर कला को कहीं आश्रय नहीं मिल सकता। उसका लक्ष्य व्यापक मानव-समाज ही रहता है। गोस्वामी तुलसीदास यह भले ही कहें कि उन्होंने अपने 'रामचरितमानस' की रचना स्वान्तःमुखाय की है, पर मानस के पढ़ने से पद-पद पर यह लक्षित होता है कि उन्होंने जनता को लक्ष्य कर ही उसकी कला का रचना की है। यदि गोस्वामीजी ने अपने 'रामचरितमानस' का लक्ष्य लक्ष्य जन-समाज में प्रचारित करना न रखा होता, तो उसके बहुत-से अंश क्षेपक समझकर निकाल दिये जा सकते थे। प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचि से वही काम करता है, जो उसे अच्छा लगता है। इसी प्रकार कलाकार भी अपनी रुचि के अनुसार ही कला का विषय चुनता है। विषय-निर्वाचन तथा प्रतिपादन-शैली में हम स्वान्तःमुखाय को कुछ दूर तक मान सकते हैं। लेकिन, कला के विधान-काल में जन-समाज को भूल जाना सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध में कवीन्द्र रवीन्द्र का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं : 'शुद्ध भाव से एकमात्र अपने आनन्द के लिए ही लिखने को साहित्य नहीं कहते। कुछ लोग कविता रचकर कहते हैं कि जैसे पक्षी अपने आनन्द के उल्लास में गाता है उसी प्रकार लेखक की रचना का उच्छ्वास भी अपने लिए ही होता है—मानों पाठक उसे छिपकर सुना करते हैं। पक्षी के गान में

पक्षी-समाज के प्रति कुछ भी लक्ष्य नहीं होता, यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता। नहीं होता तो नहीं सही, इसको लेकर तर्क करना व्यर्थ है—किन्तु लेखक की रचना का प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज ही होता है।^१ उपर्युक्त कथन से यह प्रमाणित हो जाता है कि रवि बाबू भी कला का उद्देश्य मानते हैं।

ब्रेडले ने ऑक्सफोर्ड के अपने कविता-विषयक व्याख्यान में तर्कों के विराट् आयोजन के साथ, 'कला कला के लिए' ही मानी है। उन्होंने कला को बाह्य संसर्ग से बिलकुल मुक्त रखकर उसका अलग ही स्वतन्त्र, पूर्ण और स्वयंविधायक (autonomous) संसार माना है।^२ जीवनपक्ष को छोड़ देने से कला में कुछ तत्त्व ही नहीं रह सकता। एक कलाविद् ने जीवन से निरपेक्ष रहकर ही काव्यानुशीलन का ढंग बताया है।^३ ब्रेडले की अन्य बातों को

ब्रेडले का हम विशेष महत्त्व नहीं देते, किन्तु कला का अर्थ स्वयं कला विचार ही है,^४ यह कहकर उन्होंने बड़ी मार्मिकता का परिचय दिया है।

किसी काव्य का अर्थ उस काव्य से भिन्न नहीं हो सकता। कवि के संगठित पदों को छोड़कर अन्य पदों से कला के निर्वाह के साथ काव्य की व्याख्या नहीं हो सकती। महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' और भवभूति के 'उत्तररामचरित' आदि काव्य-नाटक में कला जिन स्वरूपों में व्यक्त हुई है उनसे भिन्न उनका अर्थ नहीं हो सकता।

'कला कला के लिए' का यदि इतना ही तात्पर्य रहे तो अच्छी बात है; किन्तु जीवन से निरपेक्ष रखना उसके महत्त्व को कम करना है। रिचर्ड्स

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : साहित्य (हिन्दी-अनुवाद) : साहित्य की सामग्री।

२. "Its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase), but a world in itself independent, complete, autonomous".

A. C. Bradley : Oxford Lectures on Poetry, p. 5.

३. "To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions." Clive Bell : Art, p. 25.

४. "This is also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem we can only be answered. 'It means itself'".
—A. C. Bradley

महोदय ने अखण्ड्य तर्कों और मार्मिक युक्तियों से कलावाद की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति पर अच्छा कुठाराघात किया है। उनके मतानुसार रिचर्ड्स का कविता का विश्व शेष मृष्टि से भिन्न कोई यथार्थता नहीं बिचार रखता। इनके न खास नियम हैं और न विचित्रताएँ। प्रत्येक कविता हमारी अनुभूति का एक खण्ड-मात्र होती है।^१ अन्य अनुभूतियों से काव्यानुभूति में सबसे बड़ी भिन्नता की बात यही है कि इसमें प्रेपणीयता का होना अनिवार्य है। अपनी अनुभूतियों को दूसरे हृदय तक पहुँचाने में यदि हम असमर्थ रहे तो वह काव्यानुभूति न होकर सामान्य अनुभूति ही रह जायगी। इन सब बातों से यह निश्चित होता है कि कला किसी नई और अपरिचित दुनिया की चीज नहीं है। वह इसी संसार की वस्तु है और हमारे जीवन के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि वह अलौकिक रहती तो उससे किसी रस की प्रतीति न होती, केवल कुतूहल ही बढ़ता।

कुछ लोग कला में द्वित्व की भावना रखते हैं। चाहे वह काव्य-कला हो या चित्र-कला—दोनों में दो-दो मूर्तियों का विधान करते हैं। एक स्थूलता की मूर्ति और दूसरी सौन्दर्य की संश्लिष्ट भावना की। किसी काव्य-कला की पहली मूर्ति शब्द, छन्द, वाक्य-विन्यास आदि की रहती है कला में द्वित्व और दूसरी उसकी सहायता से कल्पना में जो विम्ब उपस्थित की भावना : होता है उसकी। चित्रकला में भी पहली मूर्ति उसके पट समीक्षा की स्थूलता की और दूसरी उससे जो भाव-ग्रहण किया जाता है उसकी। किन्तु, विचार करने पर इन मूर्तियों का द्वित्व सर्वथा अस्तित्वहीन ठहरता है। कला में उसी वस्तु का महत्त्व है, जो हमारी आत्मा का स्पर्श कर सके। पहली मूर्ति का चिन्तन हम कभी नहीं करते, उससे उत्पन्न सौन्दर्य-भाव का मूल्य ही कला का लक्ष्य है। काव्य में हमारा ध्यान शब्द, छन्द, वाक्य-विन्यास आदि पर जाता है सही, और इन्हीं की सहायता से हम विम्ब-ग्रहण भी करते हैं; किन्तु इस विम्ब-ग्रहण के अतिरिक्त कला का दूसरा साध्य नहीं है। विम्ब-ग्रहण के समय हम अन्य बातों की कल्पना भी नहीं करते। अतः, कला में द्वैत का निरूपण करना व्यर्थ ही नहीं, झंझटों को बढ़ाना भी है।

कलावादियों का एक भिन्न सम्प्रदाय सहजानुभूति और कला की एकात्मता प्रतिपादित करता है। पर कुछ लोग यह मानते हुए भी कि कला सहजानुभूति है, कहते हैं, वह एक दूसरी श्रेणी की सहजानुभूति है। साधारण सहजानुभूति से उसमें कुछ विशेषता है। विशेषता यह बताई जाती है कि

कला और सहजानुभूति : जिस प्रकार वैज्ञानिक सिद्धान्त विचार का विचार होता है, उसी प्रकार कला की सहजानुभूति, सहजानुभूति की सहजानु-
समीक्षा भूति होती है। वास्तव में न तो विचार का विचार ही कुछ है और न सहजानुभूति की सहजानुभूति ही। छोटा-से-छोटा विचार भी स्वतःपूर्ण होता है। विज्ञान जिस तरह प्रत्यक्ष अनुभवों के स्थान पर विचार की स्थापना करता है उसी तरह कभी-कभी बहुत-से छोटे-छोटे विचारों के स्थान पर एक बड़े विचार की; पर उसके निर्माण की क्रिया सदा एक-सी होती है। यही सहजानुभूति के विषय में भी कहा जा सकता है। कला की सहजानुभूति अधिक विस्तृत, अधिक मिश्रित हो सकती है, किन्तु वह होती है इन्द्रिय-बोध तथा मानसिक अनुभवों के ही आधार पर। साधारण सहजानुभूति की प्रकृति तथा तीव्रता से उसमें कोई वास्तविक विशेषता नहीं रहती। दोनों एक ही हैं, भेद का आडम्बर दिखाना बूढ़ा है। दुष्यन्त से तिरस्कृत तथा अपमानित होकर शकुन्तला ने अपने दुःख तथा क्षोभ को जिस एक शब्द—अनार्य—द्वारा व्यक्त किया था, उसमें और एक लम्बे दुःखान्त नाटक में कोई आन्तरिक भेद नहीं। उस दुःखान्त नाटक के लिए नई सहजानुभूति के साथ-साथ पुरानी अभिव्यंजना को भी फिर से प्रभाव में रूपान्तरित कर एक बड़ी सहजानुभूति में मिला देना होगा। पुरानी सहजानु-भूति या अभिव्यंजना का इससे अधिक और कोई मूल्य नहीं। इसी प्रकार का भेद कलाकार और साधारण मनुष्य में है। कुछ लोग अपने अन्तःकरण की संकुल अवस्थाओं की अभिव्यक्ति करने में दूसरों की अपेक्षा अधिक पटु होते हैं, उनकी उस ओर विशेष रुचि होती है। ऐसे ही लोगों को हम कलाकार, महाकवि, प्रतिभाशाली आदि कहते हैं। उनको हम मानव-जाति से अलग नहीं कर देते या अपने लिए ही हम कोई दूसरी संज्ञा चुनकर मानवता पर उन्हें सर्वाधिकार नहीं दे देते। सभी मनुष्य हैं, परन्तु यह सर्वथा सत्य और स्वाभाविक है कि प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि, विचार, भाव, विवेक, प्रतिभा भिन्न-भिन्न स्तर के हैं। उसी प्रकार सहजानुभूति की कोई विशेष श्रेणी

निश्चित नहीं की जा सकती। यदि श्रेणी-विभाग किया जाय, तो जगत् में जितने मनुष्य हैं, उतनी ही श्रेणियाँ होंगी; क्योंकि एक मनुष्य ठीक दूसरे की भाँति कल्पना, भावना या चिन्तना नहीं कर सकता। उसमें थोड़ा अन्तर भी अवश्य होगा। कला की ओर जिनकी रुचि नहीं, जो न तो कल्पनाशील हैं और न प्रतिभा-सम्पन्न ही, उनको सहजानुभूति हो ही नहीं सकती। सम्भव है, कभी उनके मन में सहजानुभूति के कुछ चित्र उदित हों; पर यदि वे अंकित किये जायें, तो वे पागल के प्रलाप-मात्र होंगे। कला उनसे कोसों दूर बैठकर अपने भाग्य पर आँसू बहायेगी।

पिछले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि सहजानुभूति और अभिव्यंजना में अन्तर नहीं है। सहजानुभूति होते ही अभिव्यंजना प्रस्तुत हो जाती है।

यह दूसरी बात है कि उस अभिव्यंजना को वर्णों से अलग कला-निर्माण में रखा जाय। कुछ लोग यह कहते हैं कि कलात्मक चेतनता-अचेतनता अभिव्यंजना अचेतनावस्था में होती है। शायद इसी को स्थिति कारण प्रतिभाशाली पागल समझे जाते हैं। वस्तुतः प्रत्येक

मानव-क्रिया की भाँति कला भी चेतनावस्था में निर्मित की जाती है। मनुष्य की जिस क्रिया या प्रयत्न में इच्छा का योग नहीं है, वह क्रिया या प्रयत्न हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा न हो, तो मनुष्य की स्वाभाविक क्रियाओं और कला-कृतियों में कोई अन्तर ही न रहता। इतना अवश्य ही ठीक है कि कलाकार की चेतनता एक इतिहासकार या समालोचक की चेतनता नहीं होती। इनके विपरीत कलाकार में भावुकता, गम्भीरता और मनोवेग की जो एक साथ अवस्थिति मानी जाती है, उसमें विरोधाभास-सा प्रतीत होने पर भी वह सत्य से दूर नहीं है। भावुकता और मनोवेग का आधिक्य कलावस्तु का परिचायक है और गाम्भीर्य उसकी अभिव्यंजना-शक्ति का, जिसके द्वारा प्रत्येक कलाकार अपनी मानसिक अनुभूतियों को संयत रूप से अभिव्यक्त करता है। अभिव्यंजना का तात्पर्य ही हमारी संवेदनाओं पर आध्यात्मिक सत्ता का प्रभुत्व है, हमारे पशुत्व पर मनुष्यत्व की विजय है। अतएव, कलाकार को हम अचेत न कहकर कला-संलग्न या तन्मय भले ही कह सकते हैं। जिस कला का निर्माण अचेतनावस्था में होता है, उसमें चेतन जगत् के ग्राह्य रूप को देखकर विस्मित होना पड़ेगा। विस्मय को कला में स्थान नहीं दिया जा सकता।

मानव-प्रकृति में आनन्द और विपाद का कोई माध्यम-भाव त्रियाशील नहीं होता । स्थिर और निष्कम्प प्रकृति में मानवता की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । आनन्द और विपाद के अभाव में मानव-प्रकृति अज्ञेय हो जाती है । अतः, मनोवेग और कर्म से ही जीवन में कला-निर्माण का विधान सम्भव है । कला-निर्माण के लिए न तो पूर्ण के चेतनता अपेक्षित है और न अचेतनता । वह एक ऐसी अवस्था है, दो भेद जिसमें कलाकार की समस्त शक्ति, प्रवृत्ति, मनोवेग एक ही दिशा में काम करते हैं । यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय,

तो कला-निर्माण के दो भेद निकल आते हैं—एक स्वतः प्रसूत और दूसरा चेतनायुक्त । मनोवेग की अवस्थिति दोनों में अनिवार्य है । पहले में कलाकार को यह स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता कि वह वास्तव में कला का निर्माण कर रहा है और दूसरे में उसकी समस्त चेतनता बाह्य जगत् की परिस्थितियों से संघर्ष करती हुई कला का विधान करती है । जिस अभिव्यक्ति में मनोवेग की उत्कट प्रेरणा रहेगी वह निश्चय ही सुन्दर होगी । घर से थोड़ी दूर पर आततायी मुसलमानों के घोड़ों की टाप सुनकर अपने भाई को भोजन कराती हुई उस मध्यकालीन बालिका का हृदय जिन शब्दों में प्रकट हुआ था वे सरल होने पर भी गर्मस्पर्शी नहीं हैं ?—

स्वतःप्रसूत सचमुच मनोहर है वह गीत ! राजस्थान की जिन कला अशिक्षित कुमारियों की अवहेलना जगत् अन्धकूप की हेय निवासिनी कहकर करता है, उनका भी उल्लास जब भाँड़

की कोमल स्वर-लहरी में फूट पड़ता है, तब क्या वह सुन्दर नहीं होता ? पिछले जर्मन-युद्ध में गये हुए सैनिकों की प्रोषित-पत्तिकाएँ अपने प्रिय की स्मृति में, दैनिक काम-धन्धों के बीच-बीच में, जो विरह-गीत गाया करती थीं, उनकी सन्तप्त स्मृति क्या अब भी हृदय को तीर की तरह आरपार विद्ध नहीं कर देती ? कौन साहस कर यह कह सकता है कि ये सुन्दर अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं । हमें कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के ये शब्द—

‘सुप्ति की ये स्वप्निल मुस्कान
वन्य विहगों के गान’

और—

‘रुधिर से फूट पड़ी अनजान
पल्लवों की यह सजल प्रभात’

—उनकी वाटिका के पल्लवों से, इस वन-वीथी के पल्लवों के लिए कहीं अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। भले ही उनमें सान्त-अनन्त के निभृत आलिंगन का प्रत्यक्ष वर्णन न हो, सुछवि के छाया-वन की साँस न हो, हीरक-से तारों को चूर-चूरकर प्याला न बनाया गया हो, किन्तु वे हैं अनुभूति-मूलक अभिव्यक्तियाँ ! देश में फैले हुए ऐसे ही छोटे-छोटे गीतों के आधार पर महाकवि अपने महाकाव्यों का निर्माण करते हैं। स्वतःप्रसूत गीतों में व्यक्तित्व का विकास उतना नहीं हो सकता, जितना चेतनायुक्त होकर काव्य-निर्माण में। रामायण और महाभारत में वाल्मीकि तथा व्यास का व्यक्तित्व बहुत स्पष्ट नहीं हो सका है। इसका कारण यह है कि इन दोनों महाकाव्यों में भारतीय जीवन के ऐसे मिश्रित वर्णन हैं, जिनमें से कवि के व्यक्तित्व का

ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है। रामायण पढ़ते छोटे-छोटे समय हमारे हृदय में वाल्मीकि की बहुत-कुछ धाक बनी भाव-खण्डों के रहती है, पर व्यास का अस्तित्व एक दूसरे ही ढंग से आधार पर महाभारत में व्यक्त हुआ है। यदि इन दोनों महाकवियों ने स्वयं अपने को भी अपने-अपने महाकाव्यों में एक-एक पात्र बना न लिया होता, तो वह ज्ञान भी, जो उन दोनों के सम्बन्ध में हमें प्राप्त है, न हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि देश में प्रचलित गीतों के चित्र उतने पूर्ण नहीं होते, उनमें विस्तार का उतना ध्यान नहीं रहता, उनके रंग उतने भड़कीले नहीं होते, पर हमें तो यह अपूर्णता उस पूर्णता से कहीं अधिक अच्छी लगती है। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी की बहुत-सी मुक्तक कविताओं में हमने ऐसी अपूर्णता देखी हैं। वास्तव में यह आकस्मिकता की परिचायिका है। यह बात नहीं है कि अभिव्यंजना ही अपूर्ण होती है। ऐसा तो हो ही नहीं सकता; केवल वाह्य उपकरण अपूर्ण-से दिखाई देते हैं, अपूर्णता का आभास होता है। उनके वे मुक्तक काव्य आरम्भ में सरल-स्वाभाविक शब्दों से रेखाचित्र-से बनाते चलते हैं, भाव धीरे-धीरे जागरित होता चलता है, पर अन्त होते-होते कवि की लेखनी स्वयं जैसे उत्तेजित हो उठती है, एक-दो उक्तियाँ ऐसी मर्मस्पर्शित वन पड़ती हैं कि सारे काव्य के साथ पाठक या श्रोता का हृदय भी एक अत्यन्त ऊँची रस-भूमि पर पहुँच जाता है।

कोई संवेदन, कोई मानसिक अनुभव तबतक कला का स्वरूप ग्रहण नहीं करता, जबतक वह हमारी आध्यात्मिक सत्ता का ही एक अंग नहीं बन

जाता, और यह सीमाव्य उसे तभी प्राप्त हो सकता है, जब वह इस आध्यात्मिक क्रिया की सहायता से आकृति में परिणत हो जाय। हमारी आत्मा अपनी क्रिया से संवेदन तथा उसके कारणभूत इन्द्रियबोध और

संवेदना और प्रभाव को सर्वथा रूपान्तरित कर देती है उनपर। अपने

कला विशेषत्व की छााप लगाकर वह अपनी श्रेणी का ही बना

लेती है। निर्विकार तथा शुद्ध संवेदन की स्थिति, कला

की दृष्टि से, एक निष्क्रिय अवस्था है। हम उसका अनुभव कर सकते हैं, मृजन नहीं। कितनी बार हमें संवेदन होते हैं; हम जानते हैं कि हमारे हृदय में कुछ-न-कुछ हो रहा है; किन्तु क्या हम उन्हें सदा व्यक्त कर सकते हैं? मानव-प्रकृति की मूल वृत्तियाँ तो पशु के ही समान हैं; उसकी विशेषता है मृजन-शक्ति। पशु भी अपने पुराने मालिक के घर से सदा

पशु और मनुष्य के लिए विदा किये जाने पर शोकाभिभूत हो जाता है;

का भेद कभी-कभी वह नये मालिक को छोड़कर पुराने मालिक के

ही द्वार पर चला आता है। अपने बच्चे को बाल-सुलभ

उल्लास में इधर-उधर उछलते-किलकते देखकर उसके भी रोम-रोम सिहर उठते हैं। अपने बच्चे के निकट किसी दूसरे पशु या मनुष्य को आते देखकर अनिष्ट की आशंका से उसके सींग भी ठीक मारने की मुद्रा में स्थित हो जाते हैं। ऐसा करने से अपनी सन्तान के प्रति उसके ममत्व-भाव की रक्षा होती है। इतना कर चुकने पर भी पशु काव्य प्रस्तुत नहीं कर सकता; क्योंकि उसे वैसी प्रेरणा ही नहीं होती। यदि कोई अपनी प्रणयिनी के आसव की प्याली-जैसे विम्बाधरों को, उसके भृकुटि-विलास को, उसके उभड़ते हुए यौवन को, उसकी सहज-चपल मनोमोहनी चेष्टाओं को देखकर आलिंगन की लालसा से आगे बढ़ सकता है, तो यह सदा सत्य नहीं है कि वह रसिक-शिरोमणि विहारीलाल की तरह ही हावों की सुन्दर योजना प्रस्तुत करने में सक्षम हो सकेगा। हाँ, यदि वह एकान्त में बैठकर, उसी रति-भाव से प्रेरित हो, अपने मानस-पट पर उसी सुन्दर रूप का अपने भावों के मनोहर रंगों में रंगा हुआ एक चित्र अपनी कल्पना-तूलिका से उपस्थित कर सकता है, तो सम्भव है, वह कला का विधान कर सके। यहाँ यह बात याद रखनी होगी कि अनुभूत संवेदन की केवल स्मृति से ही काम न चल सकेगा। कलात्मक अभिव्यक्ति और भाव-प्रेरित सहज अनुभाव एक ही कोटि के नहीं। एक हमारी आत्मा का काम है, दूसरा हमारे मन का।

पहले हम कह चुके हैं कि अभिव्यक्त होने के लिए वस्तु, भाव और मनोराग को विकसित होकर सहजानुभूति का रूप ग्रहण करना पड़ता है। एक बार सहजानुभूति के रूप में परिणत हो जाने पर उनका अभिव्यक्त होना अनिवार्य है।

हमारा अन्तःकरण उतनी ही सहजानुभूतियों का निर्माण अभिव्यंजना में कर सकता है, जितनी को वह अभिव्यक्त करने में समर्थ अभिनय का योग होता है। हम अपनी सहजानुभूति को केवल शब्दों में ही

प्रकट नहीं करते, बल्कि अपने अनुभवों और इंगितों से भी उनको व्यंजित करने की चेष्टा करते हैं। जब कोई अल्हड़ और सहृदय ग्रामीण युवक अपनी प्रिय वाला को पनघट पर अपने घड़े में जल भरते हुए देख लेता है और दूसरों की दृष्टि बचाकर या किसी वहाँ से ही उससे अपने मन की दो-एक बात कर आता है, तब क्या वह अपनी मित-मण्डली में उस वाला की चेष्टाओं का वर्णन केवल शब्दों में ही करता है ! उस अभिव्यक्ति में उसका सारा शरीर योग देता है। उस प्रिय वाला का जल में घड़े का डुबोना, फिर अपनी गोल-गोल बाहुओं को ऊपर उठाकर केश-पाश सँभालना, गेंडुली को झाड़कर सिर पर रखना, भरे हुए घड़े को उठाकर घुटने पर रख थोड़ा पानी उलीचना और पुनः उसको सिर पर रख अपनी सहेलियों के साथ विहँसती, बातचीत करती हुई घर जाने के दृश्य का वर्णन जिस उमंग के साथ—जिस भाव-भंगिमा के साथ—वह करता है, उसमें अनुभवों के द्वारा अभिनय भी होता चलता है। उसकी सब क्रियाएँ मिलाकर अभिव्यंजना हैं, सब मिलाकर कला हैं।

आदरणीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है : 'उक्ति-वैचित्त्य या अनूठेपन पर जोर देनेवाले हमारे यहाँ भी हुए हैं और यूरोप में भी आजकल बहुत जोर पर हैं, जो कहते हैं कि कला या काव्य में अभिव्यंजना (Expression)

ही सब कुछ है, जिसकी अभिव्यंजना की जाती है, वह कुछ आचार्य शुक्ल नहीं।' पिछले अध्याय में हम यह लिख आये हैं कि
के विचार : आकृति-विधान तो अभिव्यंजना के लिए प्रधान बात है ही,
समीक्षा काव्य-वस्तु को छोड़ने से भी उसका काम नहीं चलता।

काव्य-वस्तु का तिरस्कार करना अभिव्यंजनाववाद का कदापि लक्ष्य नहीं है। जिस रूप में अभिव्यंजना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का

विचार कला में वस्तुतः अनावश्यक है; किन्तु उक्ति की प्रकृति और आकांक्षा पर ध्यान देना आवश्यक है। यूरोपवाले लक्षणा से जितना काम लेते हैं, उतना हमलोग नहीं। इसी कारण लक्ष्यपूर्ण उक्तियों का मर्म हम बहुधा समझ ही नहीं पाते। हमारे यहाँ व्यंजना की प्रकृति पर अपेक्षाकृत विशेष ध्यान दिया गया है। लक्षणा और व्यंजना—दोनों का विचार कला में होना चाहिए। जिस रूप में कला व्यक्त हुई है उससे भिन्न रूप में कला के जीवन की रक्षा सम्भव नहीं। महाकवि वाल्मीकि की किसी उक्ति का यदि हम अपने शब्दों में अर्थ करें, तो वह उनकी कला न रहेगी और हम उससे फिर कला-विधान कर सकेंगे या नहीं, यह बहुत दूर की बात है।

राम की इस उक्ति में—

‘न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।’

—उनका उपर्युक्त श्लोकार्द्ध ही कथन माना जायगा। यदि इसके अर्थ—जिस प्रकार वाली मारा गया उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो—में भी उतना ही काव्यत्व माना जाय, तो कवि के पद-संघटन या रचना-नैपुण्य की प्रशंसा करना व्यर्थ है। राम की उक्ति में ही काव्यत्व या कला है, उसके अर्थ या व्याख्या से कला का निजी रूप विकृत हो जाता है। यदि उक्ति में स्वभावतः अर्थ-व्यक्ति की शक्ति नहीं, तो उसे अभिव्यंजना क्या, उक्ति भी कहना भ्रामक है। एक उदाहरण और लीजिए। स्वर्गीय गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की ‘रस-वाटिका’ से उद्धृत और आचार्य शुक्ल का विवेचना किया हुआ एक वाक्य है—‘यह लड़का अपने घर का दीपक है।’ इस वाक्य से यही व्यंजित होता है कि यह लड़का होनहार है और स्वजनों की आशा इस पर लगी हुई है। अभिव्यंजनावादी भी इस वाक्य से यही तात्पर्य समझेंगे। कोई यह समझने की भूल नहीं कर सकता कि इस लड़के के रहने से घर में रोशनी करने के लिए तेल की वचत होती है। लक्षणा की सहायता से जो अर्थ व्यंजित होता है वही मुख्य है। उससे भिन्न अर्थ की योजना नहीं हो सकती।

अभिव्यंजनावाद में रसवादियों की भाँति रस-व्यंग्य रखा गया है, न कि ध्वनिवादियों की तरह वस्तु ही। यदि सहजानुभूति हो तो अभिव्यंजना-

वादी भाव-व्यंजना और वस्तु-व्यंजना—दोनों में काव्यत्व मानते हैं। उदारहरण के लिए हम एक उक्ति लेते हैं—‘एक पत्ता भी नहीं अभिव्यंजनावाना में हिलता है।’ इस उक्ति का यथार्थ अभिप्राय क्या है यह भाव-व्यंजना तथा अभिधा और लक्षणा से स्पष्ट नहीं होता। व्यंजनावाने वस्तु-व्यंजना कई प्रतिबन्धों पर ध्यान देकर कहेंगे, यह आर्थी व्यंजना है और इसका अर्थ ‘हवा नहीं चलती है,’ है। हवा का न चलना वस्तु है और इसी की व्यंजना की गई है। अभिव्यंजनावाना वस्तु-व्यंजना से भाव-व्यंजना में कम काव्यत्व नहीं मानते। जो बात कलाकार की आध्यात्मिक सत्ता से सम्बन्ध नहीं रखती, जो वस्तु मनोरंजक नहीं होती, जो हमारी रागात्मिका वृत्तियों पर प्रभाव नहीं डाल सकती, वह चाहे क्रीचे की सहजानुभूति हो, चाहे एडिशन की कल्पना हो, चाहे कालिदास की काव्य-कला हो, हमारे अन्तःकरण में कोई संश्लिष्ट स्वतःपूर्ण चित्र नहीं उपस्थित कर सकती। अतः, भाव हो या वस्तु, उसकी व्यंजना में कलाकार की मार्मिकता चाहिए। जितना काव्यत्व भाव-पक्ष में होता है, उतना विभाव-पक्ष में न रखने से समस्त काव्य का सौन्दर्य ही नष्ट हो जायगा।

आचार्य शुक्ल के मतानुसार अभिव्यंजनावाना, अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़कर, केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़कर चला है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना उचित है कि अभिव्यंजनावाना का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध अनुभूति, प्रभाव तथा वाग्वैचित्र्य—तीनों से है। विना अनुभूति के सहजानुभूति का होना ही असम्भव है। यहाँ अनुभूति और सहजानुभूति का अन्तर अभिव्यंजनावाना स्पष्ट करने के लिए यह कहना आवश्यक है कि अनुभूति में अनुभूति, बाह्य जगत् के प्रभाव से उत्पन्न होती है और सहजानुभूति प्रभाव और कल्पना का बोधपक्ष है। कल्पना के मूल में अनुभूति वाग्वैचित्र्य का का कितना हाथ है, यह उसके तत्त्व से परिचय रखनेवाले स्थान अच्छी तरह जानते हैं। इस रूप में यह बात सच्ची है कि अनुभूति को जितनी व्यापकता यहाँ मिली है, उतनी क्रीचे के अभिव्यंजनावाना में क्या, यूरोप के किसी साहित्यिक वाद में नहीं। प्रभाव के

१. आर्थी व्यंजना में अर्थ की स्पष्टता के लिए वक्ता, बोधव्य, वाक्यार्थ का सन्निधान, सामीप्य, देश, काल, चेष्टा तथा प्रकरण पर ध्यान देना पड़ता है।

विषय में यही कहा जा सकता है कि जो सौन्दर्य-विधान अच्छा होगा उसमें प्रभविष्णुता स्वतः आ जाती है। कलाकार की आध्यात्मिक सत्ता जिस सौन्दर्य-विधान में सन्निहित रहेगी वह मनुष्य की रागात्मिका वृत्तियों को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रह सकती। अभिव्यंजनावाद सौन्दर्य-विधान से भिन्न नहीं है। अब केवल वाग्वैचित्र्य पर विचार करना है। वाग्वैचित्र्य अभिव्यंजनावाद का ध्येय नहीं, किन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसमें वाग्वैचित्र्य के लिए स्थान ही नहीं है। यदि कलाकार का ध्यान केवल अपने कथन की विचित्रता में ही लगा रहे, तो अवश्य ही वह काव्य न कर एक तमाशा खड़ा करेगा। क्लिष्ट कल्पित वक्रता सर्वथा निन्दनीय है। स्वभावतः ही कथन में जो वक्रता उत्पन्न हो उसमें ही काव्यत्व मान सकते हैं, किन्तु काव्यत्व की समस्त व्याप्ति इसी वक्रता में समझना बड़ी भूल होगी। मूलवस्तु में काव्यत्व नहीं रहता, उसकी सच्ची व्यंजना में काव्यत्व मानना चाहिए। अभिधा द्वारा सीधे कथन में काव्यत्व न मानकर व्यंजक वाक्य में उसकी अवस्थिति मानी जाती है। अभिव्यंजनावाद में वाग्वैचित्र्य को जितना स्थान मिला है, उससे अधिक कलाकारों ने उसके नाम पर वाग्विस्तार किया है। वाग्वैचित्र्य हृदय की गम्भीर वृत्तियों से वस्तुतः सम्बन्ध नहीं रखता और इसी कारण यह चाहे भाव-पक्ष हो या विभाव-पक्ष, काव्य के नित्यस्वरूप के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। इससे केवल एक ही मनोवृत्ति का शमन होता है। वाद-विषयक जितनी रचनाएँ हैं, उन्हें देखते हुए क्रोचे महोदय को भी आचार्य शुक्ल के विचार से सहमत होना पड़ेगा।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'यूरोप का यह अभिव्यंजनावाद हमारे यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्—का ही नया रूप या विलायती उत्थान है।'^१ अभिव्यंजनावाद में वाग्वैचित्र्य का कितना स्थान है, यह संक्षेप में पहले लिख आये हैं। वक्रोक्तिवाद का प्रधान लक्ष्य ही वक्रतापूर्ण उक्ति है। दोनों मूलतः एक नहीं माने जा सकते और एक दूसरे से प्रभावित हुआ है, न यही कहा जा सकता है। दोनों की प्रकृति में यूरोप और भारतवर्ष की प्रकृति की तरह असमानता है। वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलंकार की ओर विशेष तत्पर दिखाई देती है, लेकिन अभिव्यंजनावाद का बाह्य रूप से अलंकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अलंकार अनुगामी होकर अभिव्यंजना के

पीछे चल सकता है, वक्रोक्ति के साथ की भाँति सहगामी होकर नहीं। इसका कारण यह है कि वक्रोक्तिवाद का जन्म और अभिव्यंजनावाद विकास उसी वातावरण में हुआ है, जहाँ बहुत दिनों और वक्रोक्तिवाद तक अलंकार की तूती बोलती रही है। अतएव, उसमें वैसे वातावरण के संस्कार का रहना सम्भव ही है। अभिव्यंजनावाद में वक्रतापूर्ण उक्तियों का तो मान है ही, साथ ही स्वभावोक्तियों के लिए भी उसमें यथेष्ट स्थान है। जिस उक्ति से किसी दृश्य का मनोरम विम्ब-ग्रहण हो, वह वक्रताहीन रहने पर भी अभिव्यंजनावाद की चीज है। वक्रोक्तिवाद में स्वभावोक्ति को स्थान नहीं दिया गया है। अभिव्यंजनावाद के चित्रण में स्पष्ट तीव्रता रहती है। उसमें पाठक या श्रोता को बहुत सोचने-विचारने की जरूरत नहीं पड़ती। नग्न रूप से कुछ कह देने को काव्यत्व नहीं समझा जाता; साथ ही अपने भावों को अलंकार की तहों में लपेटकर दिखलाना भी उससे अधिक मूल्य नहीं रखता। अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में जितनी समानता है, उससे कहीं अधिक विपमताएँ हैं।

मनुष्य का चरित्र ही मनोवेगों के घात-प्रतिघात का परिणाम है। एक ओर हमारी व्यक्तिगत स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है और बृहत्तर सामाजिक शिष्टता। हमारी इच्छा, वासना, कामना, विचार आदि का समाज की रीति, परम्परा, सभ्यता, कानून आदि से सदा संघर्ष होता रहता है। हम वही काम और उसी ढंग से कर सकते हैं, जिसका समर्थन समस्त नहीं, तो कम-से-कम उसका एक बड़ा अंश करे। समष्टि को छोड़कर व्यष्टि के प्रति भी हमारी यही परिस्थिति रहती है। हमारे मन में जितनी भावनाएँ उठती हैं, उन सबको बिना विचारे किसी व्यक्ति के सम्मुख हम प्रकाशित नहीं कर देते।

उनमें से कुछ भावनाओं को, जीवन की गतिविधि तथा नैतिकता पर विचार रखते हुए, चुनकर अभिव्यक्त करते हैं। अतएव, मन में^१ किसी भावना के उदित होते ही हम यह निश्चय करते हैं—किससे कहें, कैसे कहें, कब कहें। कभी-कभी जल्दबाजी में हम बिना सोचे-विचारे कुछ बोल जाते हैं। कभी अपने कथन के औचित्य तथा युक्तिपूर्णता पर हमें हर्ष होता है और कभी

१. किसी शब्द के बोलने के पहले हमारे अन्तःकरण में कितने व्यापार होते हैं, इस विषय पर पाठकों की जानकारी के लिए थोड़ा प्रकाश

उसके अनौचित्य और अनुपयुक्तता पर पश्चात्ताप । इस प्रकार जिस बात को हम 'रामप्रसाद' से कह सकते हैं उसी को 'शिवप्रसाद' से नहीं कह सकते । प्रत्येक व्यक्ति के लिए हमारे मन में अलग-अलग भाव और भिन्न-भिन्न विचार रहते हैं और इन्हीं से प्रेरित होकर हम कुछ कहते या करते हैं । इस तरह जन-समाज के प्रति भी हम वही विचार प्रकट करते हैं, जो हमारी प्रकृति और सभ्यता के संघर्ष से उत्पन्न होता है । काव्य-रचना भी हमारे इसी संघर्ष का परिणाम है । हमारी रचना में कहीं हमारी प्रकृति-विशेष लक्षित रहती है, कहीं सामाजिक शिष्टता, कहीं दोनों । इसी प्रयत्न के कारण काव्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद का विधान किया जाता है । कला दोनों प्रकार के वादों के लिए सुरक्षित है । अभिव्यंजनावाद में किसी एक वाद का पक्षपात नहीं है ।

पारस्परिक बातचीत या किसी वाद-विवाद में जब हमारे मत एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, तब इसका कारण विशेषतः यह नहीं होता कि हमारे अनुभव

डालना अनुचित न होगा । लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने 'गीतारहस्य' में इसपर थोड़ा प्रकाश डाला है । जब हम कभी किसी परिचित व्यक्ति को देखते हैं, तब उसे पुकारने की इच्छा होने पर हम झट कह उठते हैं—'मोहन !' इतने समय में ही अन्तःकरण में कई व्यापार हो जाते हैं । पहले हम अपनी आँखों से एक व्यक्ति को देखते हैं । फिर परिचय की स्मृति जगती है । मन के द्वारा यह संस्कार बुद्धि को प्राप्त होता है कि परिचित व्यक्ति को पुकारना चाहिए । बुद्धि की आज्ञा पाते ही मन में बोलने की इच्छा होती है और हमारी जिह्वा से अकस्मात् निकल पड़ता है—'मोहन !' पाणिनि ने शब्दोच्चारण-क्रिया का वर्णन इसी प्रकार किया है—'आत्मा बुद्ध्या समेत्याऽर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया । मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति भातम् । भातस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।'—पहले आत्मा बुद्धि के द्वारा सब बातों का आकलन कर मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करती है और जब मन कायाग्नि को उकसाता है, तब कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है । तदनन्तर वह वायु छाती में प्रवेश कर मन्द स्वर उत्पन्न करती है ।

भिन्न-भिन्न हैं, वल्कि उस विषय के हमारे निर्णय ही परस्पर-विरोधी होते हैं। अभिव्यञ्जना और कला की समीक्षा के सम्बन्ध में भी यही अनुभव और वात है। कोई भी सच्चा समीक्षक किसी विषय की समीक्षा निर्णय : प्रभाव- में केवल अपने आन्तरिक प्रभावों की व्यञ्जना नहीं करता, वादी समीक्षा प्रत्युत अनुभव और अनुमान के आधार पर अपने समान की समीक्षा अन्य मनुष्यों की प्रकृति के साथ अपनी प्रकृति का सामंजस्य रखता है। यदि ऐसा न हो, तो उसकी समीक्षा आत्मकथा से अधिक महत्त्व नहीं रख सकती। मनोविज्ञान की दृष्टि से रुचि-वैचित्र्य होना बहुत सम्भव है, पर समीक्षा में केवल इसकी प्रधानता नहीं रहनी चाहिए। प्रभाववादी (Impressionist) समीक्षा में मानव-प्रकृति के इस सामंजस्य को महत्त्व नहीं दिया गया है। इसी कारण उस प्रकार की समीक्षा लोकोपकारिणी नहीं सिद्ध हो सकी। काव्य-रचना की प्रगति को बढ़ाने के लिए विशुद्ध व्यक्तिगत समीक्षा सर्वथा सामर्थ्यहीन प्रमाणित हुई है। अपनी आत्मकथा में भी गनुष्य अपने चरित्र को लोक-व्यवहार में प्रदर्शित करता है, फिर समीक्षा के लिए तो यह नितान्त आवश्यक है कि वह मानव-प्रकृति का पूर्ण सामंजस्य रखे। यदि समीक्षा निरपेक्ष हो, तो कला का विधान भी वैसा ही क्यों न हो, जिससे कलाकार को यह कहने का अवसर मिले—मैंने मानव-जीवन और लोक-रुचि का तिरस्कार कर नये ढंग से कला-निर्माण किया है। जगत् की अपेक्षा की मुझे चिन्ता नहीं। ऐसे कलाकार की प्रशंसा करने के लिए कोई तत्पर हों या न हों, ब्रेडले महोदय तथा डण्टन साहब अवश्य ही ऐसे कलाकार की पीठ ठोक देंगे।

अभिव्यञ्जनावाद के ऊपर वस्तुहीनता का जो आक्षेप किया जाता है, उसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। अभिव्यञ्जना के लिए वस्तु आवश्यक है, यह भी प्रतिपादित हो चुका है। मानव-प्रकृति की यह विलक्षणता है कि वह सदा अपने आनन्द के प्रयत्न में व्यस्त रहती है। हम कभी वस्तु और वस्तु को महत्त्व देते और कभी विधान-विधि या रचना-विधान-विधि शक्ति को, और कभी दोनों को। अपनी प्रेमिका का प्रेम-पत्र पाकर कोई प्रेमी उसमें शैली का सौष्ठव या रचना की निपुणता नहीं खोजता। उसमें उसे जो कुछ मिल जाता है उसी के प्रभाव से उसके हृदय में भावों का एक नया विश्व बन जाता है।

हमारे प्रशंसा करने के मूल में ही किसी वस्तु का महत्त्व छिपा रहता है। स्पिनोजा ने इसका स्पष्टीकरण इस तरह किया है कि किसी वस्तु को उत्तम समझकर हम उसे नहीं चाहते, बल्कि हम उसे चाहते हैं, इसी कारण वह उत्तम है। उत्तम और मध्यम का प्रश्न उपयोगितावाद का है और जीवन से अलग रहकर उपयोगितावाद का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। प्रेमिका के प्रेमपत्रों या छोटे भाई या बहन के स्नेहपूर्ण पत्रों में विशेषतः हम यही देखते हैं कि उन पत्रों में उनका हृदय किस रूप में प्रकट हुआ है और इस कार्य में हम अपनी कल्पना से बहुत सहायता लेते हैं।

रचना-शक्ति या अभिव्यंजना के विषय में कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में 'यह समुचित रूप से कहा जा सकता है—'केवल अभिव्यक्त करने की लीला से ही प्रकाशित की गई रचनाएँ साहित्य में अनादृत नहीं हुईं। उनके द्वारा मनुष्य केवल अपनी क्षमता को व्यक्त कर आनन्द-दान करता है, यह बात नहीं; किन्तु किसी भी उपलक्ष्य के द्वारा एकमात्र अपनी अभिव्यक्ति के साथ खेल कराने में उसे जो आनन्द मिलता है वह हमारे हृदय के भीतर रचना-मनुष्य एक बड़े आनन्द को संचारित कर देता है।.....साहित्य के का महत्त्व जो उपकरण हैं, साहित्य के राज्य में उनका मूल्य कम नहीं है। इसी कारण बहुधा केवल भाषा का सौन्दर्य, केवल रचना की निपुणता भी साहित्य में आदर प्राप्त करती है।' उपर्युक्त कथन वस्तुतः बहुत महत्त्व का है। गद्य-कवि बाणभट्ट की 'कादम्बरी' जिस विशालकाय में है, उसका दशमांश ही शायद कथावस्तु हो, किन्तु कलाविद् बाणभट्ट ने अपने अभिव्यंजना-कौशल से उसी को कितना बृहत् मनोरम बना दिया है ! शायद ही किसी रसिक पाठक का जी उससे ऊबे। श्रीहर्ष के नैपथ्य महाकाव्य का कलेवर भी अभिव्यंजना-कौशल के सहारे ही बढ़ा है। कथा-विन्यास को हम आविष्कार कह सकते हैं, किन्तु अभिव्यंजना या चरित्र-चित्रण सम्पूर्णतः कलाकार की अपनी सृष्टि है। सृष्टि का अर्थ नई वस्तु को उत्पन्न करना नहीं है; प्रत्युत अव्यक्त वस्तु को व्यक्त करना है। रामायण और महाभारत की कथाओं तथा उपकथाओं के आधार पर बहुत-से काव्य, नाटक आदि की रचनाएँ हुई हैं; परन्तु हम उन काव्य, नाटक आदि को, मूल-कथानकों की जानकारी रखने पर भी, कलाकार के अभिव्यंजना-कौशल से आनन्द उठाने

के लिए बड़ी उमंगों के साथ पढ़ते हैं। अभिव्यंजना के भीतर ही कलाकार यथार्थ रूप से जीवित रहता है, भाव और कथावस्तु में नहीं। यही अभिव्यंजना काव्य की वास्तविक सृष्टि है। पुनः, यदि हम कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में कहें, तो कह सकते हैं कि 'भाव, विषय और तत्त्व साधारण मनुष्यों के भी होते हैं। उन्हें यदि एक मनुष्य बाहर नहीं करता, तो काल-क्रम से कोई दूसरा करेगा, किन्तु रचना लेखक की सम्पूर्ण रूप से अपनी होती है। वह एक मनुष्य की जैसी होगी, दूसरे की वैसी नहीं होगी।' यही कारण है कि हम किसी एक ही बात के लिए एक से दूसरे की अधिक प्रशंसा किया करते हैं। कलाकार केवल अपनी कला का ही विधान नहीं करता, प्रत्युत कला के उपलक्ष्य से वह अपने व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है। व्यक्तित्व की भिन्नता ही कला-निर्माण के भेद का निरूपण करती है।

अभिव्यंजना को भाव-प्रकाशन की शैली मानकर चलने से उसमें कलाकार के व्यक्तित्व की खोज करनी पड़ेगी। कथावस्तु तथा जीवन-वृत्त—दोनों दो भिन्न चीजें हैं। मनुष्य पूर्ण रूप से कभी अपने को व्यक्त नहीं करता।

कितने काव्यकारों की जीवनियों तथा दन्त-कथाओं से यह कलाकार के पता चलता है कि जितना द्वन्द्व उनके जीवन में रहा, उतना व्यक्तित्व की उन्होंने अपने काव्यों में अंकित नहीं किया और जितना अपूर्ण अभिव्यक्ति काव्यों में व्यक्त किया, उतनी विषमता उनके जीवन में रही नहीं। अपने नाटकों में शेक्सपियर ने बहुत हत्याएँ की हैं, पर उन्होंने अपने जीवन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से एक भी हत्या की हो, ऐसा हम नहीं जानते। वाल्मीकि, तुलसी, सूर आदि के आरम्भिक जीवन की दन्त-कथाओं में जिस क्रूरता, जिस मूर्खता और जिस विलासप्रियता के वर्णन किये जाते हैं, उन्हें हम उनकी रचनाओं में खोजने पर भी नहीं पाते। अब इन कथाओं का आध्यात्मिक तत्त्व इस प्रकार समझा जाता है कि वाल्मीकि ने अपनी रचना में क्रूरता के बदले कृपालुता, कालिदास ने मूर्खता के बदले विदग्धता और तुलसी तथा सूर ने विलासप्रियता के स्थान पर राम और कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रदर्शित की है



तीसरा अध्याय

रसानुभूति का तत्त्व

सौन्दर्य-भावना और आनन्द में जो भेद बताया जाता है, वह सर्वथा निर्विवाद नहीं है। आनन्द को प्राप्त कर हम अपनी इन्द्रिय और मनोवेग को तृप्त करते हैं, परन्तु सौन्दर्य की भावना के समय हम अपने सामान्य स्तर से कुछ ऊपर चले जाते हैं। हमारा मनोवेग शान्त हो

सौन्दर्य जाता है और हम अपने को उस भावना की उपलब्धि से
और ही कृतार्थ समझते हैं, वस्तु-प्राप्ति की इच्छा नहीं करते।
आनन्द यदि ऐसा करें, तो सौन्दर्य की सत्ता पर निजत्व या उपयोग की कामना का आवरण पड़ जायगा और उसकी विशुद्धता

उसी क्षण नष्ट हो जायगी। अपने व्यक्तित्व को भूलकर ही सच्ची सौन्दर्य-पासना हो सकती है। अपनी प्रेमिका सबको अच्छी लगती है, चाहे उसमें सौन्दर्य का अभाव ही क्यों न हो। हृदय का भाव सौन्दर्य के अभाव को अज्ञात रूप से इस प्रकार पूरा कर देता है कि प्रेमी को अपनी प्रेमिका की असुन्दरता खटकती ही नहीं। भाव में परिवर्तन होते ही सौन्दर्य का अभाव झलकने लगता है। अतएव, जो स्वार्थ-सन्धान का विषय है, वह सौन्दर्य की शुद्ध भावना को उद्भूत नहीं कर सकता। भावुक और कुशल कलाकार पर्वत-श्रेणी के लता-द्रुमों को चीरती हुई, चट्टानों के साथ अठखेलियाँ करती हुई निर्झरिणी को प्यासे की तरह नहीं देखता; लावण्यमयी ललना के विभ्रम-विलास को इन्द्रिय-लोलुप की भाँति नहीं निहारता। यदि वह ऐसा करे, तो उसके वर्णन में कला का शुद्ध रूप अंकित नहीं हो सकता। हमारे प्राचीन साहित्य में प्रेमी-प्रेमिका के चित्रांकन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वे सब निजत्व के आकर्षण या विलास की भावना के वशीभूत होकर ही चित्रित किये गये हैं। किसी प्रेमी की तूलिका से अंकित चित्र दूसरे का मनोरंजन ठीक उसी प्रकार नहीं कर सकता। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि चित्र-दर्शन

से हृदय की विकल भावनाओं को बहुत-कुछ सान्त्वना मिलती है। उसका चित्र कला की कोटि में न आने पर भी वह अपने हार्दिक सौन्दर्य में भावों से कला की न्यूनता को पूरा कर लेता है। यदि निजत्व प्रेमी कुशल चित्रकार है, तो वह अपनी प्रेमिका का चित्र इतने अलौकिक तथा सुन्दर ढंग से अंकित करेगा कि वास्तविकता उससे बहुत दूर जा पड़ेगी। सत्य की कृपणता विख्यात है। अतः, उसकी दृष्टि में कला में भावों का न्यूनाधिक्य क्षम्य नहीं हो सकता।

सौन्दर्य-भावना और काव्यानुभूति में मूलतः कुछ भेद नहीं हैं। शुद्ध सौन्दर्य-भावना ही काव्यानुभूति की जननी है। निजत्व की जिस संकीर्णता का, ऊपर की पंक्तियों में, हम उल्लेख कर चुके हैं, उसमें थोड़ी-सी विशालता होते ही वह काव्यानुभूति प्रस्तुत कर सकती है। काव्यानुभूति निजी भाव का साधारणीकरण ही काव्योपयुक्त होता है।

और “किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में साधारणीकरण लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य, गाम्भीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले नहीं होते; मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुननेवाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ ‘साधारणीकरण’ कहलाता है।”^१ जो भाव समष्टि से अपरिचित रहकर विकसित होता है, वह काव्य में स्थान पाने का अधिकारी नहीं। जो व्यक्ति हमारे लिए क्रूर है उसमें हम सौन्दर्य का दर्शन नहीं कर सकते। दूसरों के लिए वह भले ही कामदेव की मूर्ति हो, किन्तु हमारे लिए वह कुछ नहीं के बराबर है। इसका कारण यही है कि सौन्दर्य यथार्थतः हमारे हार्दिक भावों का ही प्रतिबिम्ब है। क्रूर के व्यक्तित्व से यदि हमारे भावों का अभिनन्दन हो जाय, तो वही फिर हमारे लिए परम

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद (द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ), पृ० १४८।

सुन्दर बन जायगा। किसी व्यक्ति में सौन्दर्य-तत्त्व के रहते हुए भी हम केवल अपनी घृणा या क्रोध के आरोप के कारण उसको तिरस्कृत कर देते हैं। इसी भाँति जो व्यक्ति हमारे लिए बहुत कृपालु है, उसमें सौन्दर्य-तत्त्व के अभाव पर भी हम सुन्दरता पाते हैं। यही व्यष्टि-प्रधान भाव काव्यानुभूति के अनुकूल नहीं पड़ता। जो हमारे लिए क्रूर या कृपालु है वह यदि समस्त मानव-समाज के लिए, सार्वभौम रूप से, क्रूर या कृपालु हो जाय, तो इसी वृत्त पर विश्व-काव्य का निर्माण हो सकता है। यदि काव्य की रचना किसी एक ही व्यक्ति के लिए की जाती, तो उसमें भावों के साधारणीकरण की आवश्यकता नहीं थी; परन्तु काव्य की रचना एक के लिए नहीं होती। उसका लक्ष्य समस्त मानव-समाज की सामान्य मानवता के प्रति निर्दिष्ट रहता है। इसी कारण उसमें भावों का ऐसा विधान किया जाता है, जिससे एक नहीं, सभी मनुष्य प्रायः समान रूप से उन भावों को हृदयंगम कर सकें।

काव्यानुभूति और रसानुभूति में तात्त्विक दृष्टि से थोड़ा भेद बताया जा सकता है। काव्यानुभूति की स्थिति विशेष रूप से कलाकार में मानी जाती है और रसानुभूति की स्थिति पाठक या श्रोता में। इसका यह तात्पर्य नहीं कि काव्यानुभूति पाठक को नहीं होती या कलाकार रसानुभूति से काव्यानुभूति वंचित रहता है। दोनों एक ही वस्तु के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक में विधायक कल्पना की अपेक्षा रहती है और दूसरे में ग्राहक कल्पना की। काव्य की अनुभूति होने पर ही कलाकार अपने काव्य की सृष्टि में तत्पर होता है और पाठक या श्रोता को जबतक उसमें रसानुभूति न हो, तबतक उसके लिए काव्य की संज्ञा ही व्यर्थ है।

काव्य की विश्वात्मक अनुभूति के नीचे जातीयता का स्थान है। संस्कृति, सभ्यता तथा अन्य किसी कारणवश जो अनुभूति देश के बाहर स्थान नहीं प्राप्त कर सकती, वह देश-व्यापी होने पर जातीय काव्य में स्थान पा जाती है। राम और कृष्ण के नाम में जो पावनता का भाव एक हिन्दू-हृदय में हो सकता है वह किसी ईसाई में सम्भव नहीं। हिमालय के गर्वोन्नत शिखर को देखकर किसी भारतीय कवि के हृदय में जिस भाव की सृष्टि हो सकती है, वह यूरोप के कवि में शायद नहीं। गंगा की

निर्मल धारा के प्रति जैसी अगाध श्रद्धा एक हिन्दू प्रकट कर सकता है, वैसी संसार की कोई अन्य जाति नहीं कर सकती । इस प्रकार के भाव जात्यन्तर्गत तथा देश से सीमित होने के कारण वस्तु-रूप में समस्त मानव-समाज के अनुकूल नहीं पड़ते । किन्तु, ऐसे भावों में जहाँ-कहीं जीवन के शाश्वत सत्य का साधारणीकरण किया जाता है, वहीं वे विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं । भावों की उत्तरोत्तर उदारता तथा विशालता से उनका क्षेत्र भी उसी परिमाण में बढ़ता जाता है । अपने दुःख पर आँसू बहाना सभी जानते हैं, पर दूसरों के लिए जो आँसू बहाते हैं, वे ही वृहत्तर मानव-समाज की श्रद्धा का उपभोग करते हैं । जो बात जीवन-पक्ष में मान्य और सत्य है वह काव्य-पक्ष में अमान्य और असत्य नहीं हो सकती ।

हमारे जीवन के चारों ओर एक ऐसा वातावरण रहता है जिसके बाहर जाना सबके लिए सरल नहीं । उस वातावरण की पुष्टि हमारे जातीय महाकाव्यों से बराबर होती रहती है । यदि हमारे सामने आरम्भ से ही रामायण तथा महाभारत-जैसे महाकाव्य न होते, तो हमारे संस्कार और प्रकृति में एक उल्लेखनीय अन्तर रहता । हमारी कल्पना, भाव, विचार की शैलियाँ इतनी निर्दिष्ट हो गई हैं कि इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ढंग से सोचना भी हमारे लिए कठिन हो गया है । हमारे प्रत्येक विचार और कार्य का प्रेरक अलक्ष्य रूप से यही वातावरण है । कभी-कभी हम अपने ऊपर पड़नेवाले प्रभाव का कारण भी नहीं बता सकते । उसी काव्य से हमारा मनोरंजन हो सकता है, जिसमें हमारी रागात्मिका वृत्तियाँ अपना आश्रय पा सकती हैं । यदि किसी रूपचेंष्टा के प्रति हमारी कोई सहानुभूति नहीं, यदि हमारे चित्त पर उसका कुछ प्रभाव नहीं, तो किसी आध्यात्मिक प्रवृत्ति की शक्ति नहीं—चाहे वह क्रोचे की सहजानुभूति हो, एडिसन की कल्पना हो या महाकवि कालिदास की काव्य-कला हो—कि वह हमारे अन्तःकरण में कोई संश्लिष्ट स्वतःपूर्ण चित्र उपस्थित कर सके ।

वाल्मीकीय रामायण में मेघनाद की मृत्यु से हमारे मन में विपाद की सृष्टि नहीं होती, वरन् उससे हर्ष ही उत्पन्न होता है; चलो, रामानुज लक्ष्मण

पर सांघातिक आक्रमण करनेवाले शत्रु से छुट्टी मिली। किन्तु, माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद की हत्या पढ़कर चित्त एक संशय में पड़ जाता है। देव-पूजा में निरत निःशस्त्र मेघनाद की संस्कार और अन्यायपूर्ण हत्या पर हमारी अनुकम्पा जगती है। हम रावण रसानुभूति पर पड़ी हुई विपत्ति के प्रति संवेदना दिखाकर उसी के आँसू में रोना चाहते हैं, लेकिन उसी समय हमारा संस्कार

कह उठता है—अरे, यह क्या करते हो ! दुश्मन की मृत्यु पर अश्रुपात ! संशय उत्पन्न होते ही रस-भंग हो जाता है। रसानुभूति के लिए हृदय की संशयपूर्ण स्थिति उपयुक्त नहीं होती। उसके लिए हृदय की विकार-रहित स्थिति आवश्यक है। महाकवि मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट' में जिस समय हम खुदा के दुश्मन शैतान की पीड़ा-यन्त्रणा देखते हैं, उस समय भी हमारी दशा बहुत-कुछ इसी प्रकार की हो जाती है। पर, अन्तर इतना ही रहता है कि इसमें रामायण की तरह हमें संस्कार से अधिक सहयोग नहीं मिलता। ईश्वर के प्रति हमारे हृदय में जो पूज्य भाव है, वही उनके प्रति हमारी संवेदना को उभारता है, पर द्विविधा में हमारा चित्त उसी समय पड़ता है, जब शैतान के दर्प, तेज और वीरत्व के सम्मुख हमारा पूज्य भाव पराभूत हो जाता है;

क्योंकि सद्गुण का महत्त्व ही ऐसा होता है। ईश्वर से द्रोह करने के लिए हम शैतान की चाहे जितनी निन्दा करें, परन्तु उसके कष्ट सहने की क्षमता की प्रशंसा भी हमें करनी ही पड़ती है। शैतान के मुँह से हमें ऐसे वचन सुनने को मिलते हैं, जिनकी सत्यता पर कोई सन्देह कर ही

नहीं सकता।^१ प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक शैण्ड के मतानुसार प्रत्येक भाव, विचार का अलग-अलग मूल्य होता है। सबको एक साथ मिलाकर देखने से भावों का यथार्थ महत्त्व नहीं मालूम पड़ता। ईश्वर-द्रोह के कारण शैतान के सब सद्गुणों को भूल जाना ऐसी ही बात है। रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, दुर्योधन, शकुनि आदि के दुर्गुणों के प्रति हम अपनी विरक्ति भले ही दिखावें, किन्तु

१. What though the field be lost ?

All is not lost : the unconquerable will,
And Study of revenge, immortal hate,
And courage never to submit or yield;
And what is else not to be overcome ?

उनकी थोड़ी-सी विशेषताओं के साथ भी हमारा हृदय योग देता है। एक लेखक सहस्रों पाठकों के प्रतिनिधित्व का काम करता है। अपने काव्य में वह क्रोध, घृणा, शोक, उत्साह, ह्लास आदि की जैसी व्यंजना करता है, तदनुकूल ही पाठक उन सब भावों का अनुभव करते हैं। पर, इस प्रकार के प्रतिनिधित्व का काम सरल नहीं है। रसों के मनोवैज्ञानिक विवेचन से यह बात प्रकट हो जाती है कि वैसे ही भावों के साथ पाठकों का हृदय सहयोग कर सकता है, जो उनकी हार्दिक वृत्तियों के अनुकूल पड़ते हों। ऐसा नहीं होने पर वह पाठकों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। उसका सारा काव्य केवल भाव-प्रदर्शक ही रहेगा, विभाव-विधायक नहीं हो सकता।

रोम के पिशाच तथा नृशंस सम्राट् नीरो की कथाएँ बहुतों ने सुनी होंगी। वह अपने आनन्द के लिए गाँवों में आग लगवा देता था; बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियों को वहाँ से निकलकर भागते देख पुनः पकड़वाकर उन सबको उन्हीं भट्टियों में झोंकवा देता था; खूँखार जंगली जानवरों को पिजड़े में बन्दकर उसमें निरपराध व्यक्तियों को घुसा देता था। इस प्रकार लोगों को रोते, चिल्लाते और तड़पते देखकर वह आनन्द से हँस-हँसकर तालियाँ पीटता था। अयोग्य देखकर वह आनन्द से हँस-हँसकर तालियाँ पीटता था। कथानक ऐसे दृश्य-वर्णन के प्रति काव्य का श्रोता या पाठक नीरो के आह्लाद में कभी योग न देगा। इसके विपरीत नीरो की नृशंसता तथा हृदयहीनता पर वह क्रोध, क्षोभ और घृणा से तिलमिला उठेगा। काव्यकार यदि यह चाहे कि जनता नीरो के आह्लाद में योगदान दे, तो वह भी उसी के समान नृशंस समझा जायगा और यदि वह यह चाहे कि नीरो की अमानुषिकता पर जनता—पाठक या श्रोता—अपना क्रोध व्यंजित करे, तो यह उचित हो सकता है। ऐसी नीचता के प्रति अधिकांश श्रोताओं या पाठकों के हृदय में, क्रोध की भावना विशेष उत्तेजित न होकर, घृणा का उद्रेक होगा। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ऐसे कठोरतापूर्ण दृश्य से भी मनुष्य के

Here for his envy, will not drive us hence;

Here we may reign secure, and in my choice;

To reign is worth ambition, though in Hell;

Better to reign in Hell, than serve in Heaven.

—Milton's Paradise Lost, Bk. I, II; 105—109 and 260—263,

मन में क्रोध उत्पन्न न होगा; बल्कि क्रोध व्यंजित होकर शीघ्र ही घृणा में पर्यवसित हो जायगा। क्रोध को स्थायित्व नहीं मिलेगा। क्रोध सक्रिय होता है और घृणा निष्क्रिय। नीरो के अपराध से पाठक का क्रोध उद्दीप्त होगा, पर उसकी नीचता पर पाठकों का ध्यान विशेष रूप से जायगा और ऐसे नीच मनुष्याकार पशु से हजार बार पाठक अलग रहना पसन्द करेंगे। स्वभाव की विलक्षणता से कोई क्रुद्ध होकर नीरो की हत्या करने को तत्पर हो जाय, कोई घृणा से अपनी आँखें फेर ले, कोई शोकाभिभूत होकर अश्रुपात करे, और

सम्भव है, कोई उस दृश्य को शान्तिपूर्वक देखने का धैर्य भी रखे। भिन्न-भिन्न स्वभावों का आलम्बन एक ही होगा। प्रकृति की इतनी विभिन्नता होते हुए भी काव्यकार को केवल सामान्य प्रकृति का ही विचार रखना पड़ता है। सामान्य प्रकृति के धर्म के आधार पर उठे हुए विशेष की व्यंजना से जो रसात्मकता प्रतीत होगी वह सर्वथा स्पष्ट

रहेगी। व्यक्ति प्रत्येक दशा में विशेष ही बना रहेगा, पर उसके आलम्बनत्व धर्म का, सामान्य प्रकृति के आधार पर, चित्रण करना पड़ेगा। पाश्चात्य काव्य-दृष्टि में रसवाद की अपेक्षा चमत्कारवाद का ही अधिक विचार किया जाता है। केवल कल्पना के बल से निर्मित पात्र में वह विशेषता नहीं आ सकती, जो भाव के आधार पर आ सकती है। भाव सामग्री है और कल्पना रूप-योजना। रसानुभूति के लिए भाव की अनुकूलता होनी चाहिए, कल्पना को अनुकूल बनाने में कठिनता नहीं होती।

काव्य में वर्णित चरित्र के सुख-दुःख के साथ हम अपने हृदय की वृत्तियों का सामंजस्य रखते हैं। कभी प्रसन्नता से हँसते, कभी चिन्ता से विह्वल होते और कभी दुःख से रोते हैं। वर्णित आश्चर्य की प्रत्येक स्थिति के साथ हम तादात्म्य का अनुभव करते हैं। यह तादात्म्य विशेषतः उसी पात्र में होता है जिसके प्रति काव्यकार अंशतः भी पक्षपात करता है।

काव्यगत पात्र जो पात्र कुछ ऐसे कारणों से दुःख झेल रहा है, जो हमारी के साथ प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं, उसके लिए हमारे हृदय में अनुकम्पा तादात्म्य का भाव जाग्रत नहीं होता। शील-सद्गुण के रहते हुए जो कष्ट सहता है उसके प्रति हमारे हृदय में बड़ी ऊँची भावनाएँ उठा करती हैं। हम उसे शीघ्र ही कष्ट-मुक्त देखने की अभिलाषा रखते हैं। इस प्रकार की भावनाएँ साधारणीकरण से ही उठती हैं।

वाह्य जगत् में सुख-दुःख के संश्रव को देखकर हमारे चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है उससे और काव्यगत चरित्र के प्रभाव में अन्तर है। एक का आवेग दुर्दम्भ है और दूसरे का कोमल तथा मधुर। वाह्य जगत् में हम एक प्रकार की परवशता का अनुभव करते हैं। अपनी चेष्टा से हम भले ही

विपत्ति का पहाड़ अपने सिर पर लें, किन्तु सुख के प्रति हमारा वाह्य और आग्रह सफल ही होगा, यह अनिश्चित ही रहता है। काव्य में काव्यगत हमें इस प्रकार की विषमता का आभास नहीं होता। सुख प्रभाव की ओर तो मानव-प्रकृति अग्रसर होती ही है, काव्य में हम करुणा की जिज्ञासा भी करते हैं। वास्तविक क्रुद्ध व्यक्ति और

क्रोध के अभिनेता के भावों में जो मौलिक भेद है, वही विश्व की विषमता और काव्यगत चरित्र के प्रभाव में है। सीता^१ और शकुन्तला^२ के निष्ठुर प्रत्याख्यान में हमारा चित्त सन्तप्त होता है, फिर भी हम उन्हें चाव से पढ़ते हैं। अज के विह्वल विलाप^३ से हमारा हृदय विदीर्ण होता है, पर हम उसे छोड़ते नहीं। रति के अजस्र अश्रुवर्षण^४ के दृश्य की कल्पना भी हम अपने मन से नहीं हटाते। काव्य-कला में हमारे हृदय की वृत्तियाँ इतनी निमग्न हो जाती हैं कि हम कला के स्वरूप को ही वस्तु-स्थिति समझ लेते हैं। ऐसे वर्णनों से ही रस-दशा लाई जाती है। यही हृदय की मुक्त अवस्था है।

मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपनी चित्त-वृत्ति के अनुकूल आलम्बन पाकर ही अनुकम्पा प्रदर्शित करता है। जो व्यक्ति जैसा ही शील-सम्पन्न, निरपराध, निराश्रय रहता है उसके प्रति हमारी सहानुभूति भी वैसी ही बढ़ी-चढ़ी रहती है। सहानुभूति के आलम्बन में जो विशेषताएँ रहती हैं उनसे तो हम विमुग्ध हुए ही रहते हैं, उसके विरोध चित्त-वृत्ति के औचित्य को भी विचारपूर्वक देखने का धैर्य नहीं रख सकते। और शकुन्तला-प्रत्याख्यान के समय शकुन्तला की विपत्ति से घबराकर अनुकम्पा सभी दुष्यन्त को दोष देते हैं, किन्तु उसके चरित्र की एक विशेषता की ओर से लोग आँखें मूंद लेते हैं। शकुन्तला के मादक सौन्दर्य को देखकर भी शाप-ग्रस्त दुष्यन्त ने धर्म-बाधा समझकर उसे

१. भवभूति : उत्तररामचरितम्।

२. कालिदास : अभिज्ञान शकुन्तलम्।

३. कालिदास : रघुवंशम्।

४. कालिदास : कुमारसम्भवम्।

नहीं अपनाया। हम यह जानते हैं कि दुष्यन्त विलासी और इन्द्रिय-लोलुप था; क्योंकि थोड़ी देर पहले ही हंसपादिका के संगीत को सुनकर विदूषक ने राजा से इसका तात्पर्य पूछा। दुष्यन्त ने मृदुल हास से कहा— सङ्कृतप्रणयोज्यं जनः इस देवी को हमने एक ही बार प्रणय कर त्याग दिया है। सम्भव है, इस प्रकार की अनेक देवियाँ सङ्कृत प्रणयवाली हों। फिर भी, जहाँ चरित्र का उत्कर्ष मालूम हो, वहाँ उसे भूल जाना समुचित नहीं। बात सच्ची यह है कि शकुन्तला की कोमल और मधुर आशा पर इतना तुषारपात हुआ कि उस घने कोहरे के बीच हमें केवल उसका विदीर्ण हृदय ही याद रहा, दुष्यन्त के हृदय की उच्चता को हम देख नहीं सके। शकुन्तला की विमुग्ध सरलता का चित्र हमने पहले ही देख लिया था और इसके साथ पतिगृह-गमन के समय यह भी जान लिया था कि पतिगत-प्राणा शकुन्तला अपने हृदय में कितने अरमानों को रखकर राज-राजेश्वर पति के पास जा रही थी। यदि उसके प्रति हमारे हृदय में काव्यकार ने पहले ही इतना ममत्व न भर दिया होता, तो निराश शकुन्तला के लिए हम उतनी अनुकम्पा कहाँ से लाते !

जब हम किसी वीररसपूर्ण वर्णन को सुनते हैं, तब नायक की वीरता से प्रभावित होकर हमारा हृदय भी ओज तथा उत्साह से भर जाता है। प्रत्येक क्षण उसके उत्तरोत्तर वीरत्व से हम अपनी नसों में एक अभिनव शक्ति का अनुभव करते हैं। ज्योंही हमारी आशा के क्रम में व्याघात रस-व्याघात पहुँचता है, अर्थात् नायक की वीरता पर अनपेक्षित निरुत्साह का आक्रमण हो जाता है, त्योंही हमारी उत्तेजित नसों में इतनी शिथिलता आ जाती है कि हम थक-से जाते हैं। जैसे हम दौड़ते-दौड़ते एक गड्ढे में गिर पड़ते हैं ! कृष्णा के व्याघात पर भी हमें वैसा ही क्षोभ होता है। तुलसीकृत रामायण में सीताहरण के उपरान्त राम के विदग्ध विलाप को सुनकर हम कितने विह्वल हो जाते हैं ! वृक्ष से, लता से, मोर से, हिरन से किस आत्मीयता का अनुभव होता है ! केवल राम के ही नहीं, हमारे भी सहचर-से बन जाते हैं। चराचर विश्व को कृष्णा से कम्पित करनेवाले राम के इस हृदय-द्रावक विलाप—

‘हे खग मृग हे मधुकर स्नेनी, तुम्ह देखी सीता मृगननी ।’

को सुनकर उनके प्राण-संशयमय विषाद के प्रति हमारा मानस कितना अनुकम्पित होकर व्यथित हो जाता है ! सो समय ज्योंही हम सुनते हैं—

‘एहि विधि खोजत बिलपत स्वामी, मनहुं महाबिरही अतिकामी ।

पूरन काम राम सुखरासी, मनुहुं चरित कर अज अविनासी ॥’

—त्योही हमारी सारी अनुकम्पा, समस्त विपाद निराधार हो जाता है। हमारे मन का ताप निकलकर कवि के प्रति क्षोभ का प्रदर्शन करता है। धोखे में किसी छद्मवेपी राजा को तुच्छ दान देकर मन में जिस प्रकार लज्जा होती है उसी प्रकार सर्वान्तर्यामी राम के प्रति अपनी कृपा का वैभव लुटाकर हम धोखा खा जाते हैं। रसानुभूति के लिए इस प्रकार का व्यतिक्रम बहुत ही अनुचित है। रस-परिपाक की भूमि पर पहुँचते ही रस-भंग हो जाता है। विप्रलम्भ शृंगार का जो प्रभाव हमारे हृदय में धीरे-धीरे व्याप्त हो रहा था वह एक क्षण में ही नष्ट हो जाता है। रस-परिपाक के लिए घटना-क्रम का पूरा सामंजस्य आवश्यक है।

रसानुभूति के लिए भाव तथा विभाव—दोनों का सामंजस्य रखना पड़ता है। केवल विभाव से भी रस की अनुभूति हो जाती है। सामान्यतः काव्यकार अपने पाठक या श्रोता के हृदय में जिस रस की प्रतीति कराना चाहता है कभी-कभी उसकी प्रतीति बहुत संयम और कठिनता से होती है।

काव्यकार ने भाव-व्यंजना के लिए जो आलम्बन निश्चित किया है

तादात्म्य उसके साथ सहानुभूति और आश्रय के साथ कुछ तादात्म्य रखते
और हुए पाठक या श्रोता अपने स्वतन्त्र भाव को महत्त्व दे देते हैं।

शील-दर्शन पर इस प्रकार के तादात्म्य के लिए जितना संयम काव्यकार चाहता है, उतना पाठक या श्रोता रख नहीं सकते। लोक-

हृदय की सब वृत्तियों को परितुष्ट करने से काव्यकार अपने विशेषत्व का निर्वाह नहीं कर सकता। ऐसे अपरितुष्ट भाव की अनुभूति के समय पाठक या श्रोता आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं रख सकते, अपनी स्थिति अलग ही रखते हैं। पाठक या श्रोता की यह स्थिति केवल शील-द्रष्टा के रूप में ही नहीं रहती; वे अपने आलम्बन की आकांक्षा को कार्य-रूप में परिणत देखना चाहते हैं। कौरव की राज-सभा में पाँचों वीर पाण्डवों के सामने ही जिस समय निरपराध कुलांगना द्रौपदी को दुःशासन केश पकड़कर लाता है और बड़ी निर्लज्जता के साथ उसकी साड़ी खींचकर नंगी करना चाहता है, उस समय भीम, अर्जुन आदि की मुखाकृति पर दृष्टिपात करने से यह विषय स्पष्ट हो जाता है। द्रौपदी बार-बार अपने पतियों को उत्तेजित कर उनसे

अपनी दुर्दशा का अन्त कराना चाहती है। युधिष्ठिर जुए में हारकर मुँह लटकाये बैठे हैं। भीम आवेश में आकर होंठ चबा रहे हैं। प्रतिक्षण वे अपने बड़े भाई की ओर देखते हैं, आज्ञा मिले तो कौरव की राज-सभा को नष्ट-भ्रष्ट कर दूँ, पृथ्वी को रसातल पहुँचा दूँ ! पाण्डवों की बलिष्ठ नसों में गरम खून का उबाल आ रहा है। कौरव-दल घमण्ड से हँस रहा है, गुणवती पतिव्रता द्रौपदी कभी भीम की ओर आतुर होकर देखती और कभी अर्जुन की तरफ करुणापूर्ण दृष्टि फेरती है। पाण्डवों के ऊपर ऐसा धर्म-बन्धन डाल दिया गया है कि वे टस-से-मस नहीं हो सकते। इस परिस्थिति में महाभारतकार ने जितने संयम और धैर्य से काम लिया है, उतना पाठक या श्रोता में प्रायः सम्भव नहीं। वे इस समय यह सोचते हैं, पाण्डव अपने प्रचण्ड विक्रम से बात-की-बात में कौरव-सभा को छिन्न-भिन्न कर सकते हैं, फिर यह दारुण अपमान क्यों ? भीम अपनी गदा लेकर दुःशासन की जाँघ उसी समय चूर-चूर कर देते, तो अधिकांश पाठकों या श्रोताओं की सहानुभूति उन्हें प्राप्त हो जाती। जैसा दृश्य यहाँ प्रस्तुत किया गया है उससे पूरा तादात्म्य नहीं होता। रस-दशा में लाये जाकर पाठक या श्रोता वहीं तक नहीं रह जाते। भाव और विभाव, दोनों के साथ तारतम्य रखते हुए वे कुछ ऐसी भाव-व्यंजना भी करना चाहते हैं, जो काव्य में वर्णित भाव से पूरी संगति नहीं रखते। वे झुंझलाकर युधिष्ठिर पर अपना क्षोभ प्रकट करते हैं। जब श्रीकृष्ण ने अपनी अलौकिक शक्ति से आर्त द्रौपदी की लज्जा का निवारण किया, तब पाठक या श्रोता को वह उद्वेग तो नहीं रहता, किन्तु सच्ची शान्ति भी प्राप्त नहीं होती। उनका हृदय करुणा, क्रोध, घृणा आदि भावों को छोड़कर विस्मयादि भावों में भर जाता है। जिसने बेचारी द्रौपदी की लाज रखी उसने केवल इतना क्यों किया ! दुर्योधन, शकुनि और दुःशासन की हड्डियों को क्यों न चूर-चूर कर दिया ! धर्म का स्वरूप ही वह कैसा जिसके कारण आँखों के सामने विवाहिता स्त्री नग्न की जाय ! ऐसे दृश्य में पूरी रसानुभूति न होकर पाठक या श्रोता बहुत-कुछ अपरितुष्ट ही रह जाते हैं।

पूर्वीय और पश्चिमीय काव्य-दृष्टि का सबसे प्रधान अन्तर यही देखा जाता है कि पूर्वीय में पहले धर्म का महान् रूप चित्रित किया जाता है, पर

पश्चिमीय काव्य में पाप के विराट् रूप की योजना ही आरम्भ में उपस्थित की जाती है। रामायण में राम का शील-सद्गुणपूर्ण चित्र पहले धर्म और पाप अंकित किया गया है और रावण के पापपूर्ण दुर्दान्त विक्रम के चित्रण का पीछे। मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट' के पहले खण्ड परिणाम में ही शैतान के जिस प्रचण्ड पराक्रम का वर्णन किया गया है, उससे स्वभावतः ही पाठकों का चित्त उस ओर विमुग्ध तथा आकर्षित होने लगता है। धर्म के विरोधियों का इतना विशाल चित्र उपस्थित करने से एक हानि यह होती है कि पाठकों के हृदय में उनके लिए अवश्य ही कुछ सहानुभूति हो जाती है, लेकिन इसके साथ धर्म के पक्ष में एक लाभ भी है। उज्ज्वलता को प्रमाणित करने का आधार अन्धकार के सिवा कुछ हो ही नहीं सकता। प्रतिद्वन्द्वियों के पारस्परिक पराक्रम का महत्त्व एक-दूसरे से सम्बद्ध है। धर्म के विरोधियों का आकर्षक चित्रण इस कारण विशेष बुरा है कि उनके—जैसे रावण और शैतान के—चरित्र से हमें विशेष विरक्ति नहीं होती, बल्कि उनके प्रचण्ड बल-विक्रम और रण-कौशल से हमारा कुछ मनोरंजन ही हो जाता है। काव्यकार जो प्रभाव हमारे चित्त पर डालना चाहता है वह नहीं होता, वरन् इसके विपरीत धर्म-विरोधियों के महत्त्व के सामने हम झुक-से जाते हैं। यह स्थिति न तो रस-भंग की है, न रसाभास की; यह एक मध्यम कोटि की रसानुभूति है, जिसका विवेचन प्राकृत रस-निरूपण-पद्धति में अच्छी तरह नहीं किया गया है। हम उनके भावों में लीन तो नहीं होते, पर उनके कुछ भावों, अतिप्राकृत विचारों, क्रियाओं का अनुमोदन हृदय से कर देते हैं। प्रायः सभी रसों में अलौकिकता की सृष्टि कर प्राकृत को अतिप्राकृत बना दिया जाता है। ऐसा करने का कवि का यह अभिप्राय रहता है कि पाठक या श्रोता पर उसके भावों का प्रभाव स्थायी रह सके। जबतक प्राकृत के नियम पर अप्राकृत का चित्रण न होगा, तबतक मनुष्य के हृदय पर रसात्मक प्रभाव न डालकर वह आश्चर्य तथा कौतुक को ही उद्दीप्त करेगा।

न्याय या निर्णय करने के लिए शम की प्रधानता आवश्यक है। न्याय के पहले हृदय में वह भाव पैदा होता है, जो किसी घटना की सूचना पाते ही अपना सत् या असत् का निर्णय सुना देता है। इस निर्णय से न्याय का क्या

सम्बन्ध रहता है, यह पीछे घटना की जाँच-पड़ताल करने पर मालूम होता है। किसी की हत्या का समाचार सुनकर हम अचानक कह उठते हैं—आह ! यह अनर्थ हो गया ! पीछे सम्भव है, वह हत्या न्याय समझी जाय, किन्तु हम उस समय की प्रतीक्षा नहीं करते। न्याय और दया के स्वरूप में जो भिन्नता समझी जाती है, वह वस्तुतः वैसी नहीं है, जैसी बाहर से देख पड़ती है। दोनों के विश्लेषण से पता लगेगा कि दया के भाव को जीवित रखने के लिए ही न्याय का विधान किया गया है। जो प्रत्येक स्थिति में दया का न्याय और दया कोमल स्वरूप ही देखना चाहते हैं वे वास्तव में दया के तत्त्व से अनभिज्ञ हैं। काव्य में वर्णित कभी किसी दुःशील पात्र के प्रति भी, यदि विषम परिस्थितियों के साथ उसके कार्यों का सामंजस्य दिखाया जाय, तो हमें थोड़ी सहानुभूति हो जाती है। इसी कारण सभ्य पुरुष, मूर्ख और दुर्बोध मनुष्य को अपने क्रोध का पात्र न बनाकर, दया का पात्र ही समझते हैं। जिन परिस्थितियों में रहकर उस पात्र ने कोई कुकर्म किया है, उन्हीं परिस्थितियों में रहकर कोई दूसरा व्यक्ति यदि उस कुकर्म से बच सकता है, तो हमारी दया का स्वरूप पहले पात्र के प्रति करुणा और थोड़ा कठोर हो जाता है। ऐसी स्थिति में हमें कैसी घृणा को रसानुभूति होती है, यह शेक्सपियर की एक नायिका के अनुभूति सम्बन्ध की घटना से बहुत-कुछ स्पष्ट हो जायगा। डेस्डिमोना एक पति-परायणा स्त्री है। किसी ने उसके मूर्ख और निर्बोध पति ओथेलो से डेस्डिमोना के दुश्चरित्र होने की बात कह दी। इस बात की जाँच किये बिना ही वह अकाण्ड ताण्डव करने पर तुल गया। डेस्डिमोना ने कहा—मेरे स्वामी, मुझे घर से निकाल दो, पर जान से मत मारो।

ओथेलो—दूर हो, कलंकिनी !

डेस्डिमोना—अच्छा, कल मुझे जान से मार डालना, आज केवल रात-भर के लिए जीने दो।

ओथेलो—नहीं, तुम्हारा यह कहना व्यर्थ है।

डेस्डिमोना—लेकिन आध घण्टा भी।

ओथेलो—हो गया। अब रुकना असम्भव है।

डेस्डिमोना—बस, केवल एक ईश-प्रार्थना कर लेने दो।

ओथेलो—बहुत देर हो गई।

[वह गला दबाकर मार देता है^१]

इस हृदयद्रावक हत्याकाण्ड को देखकर रोम-रोम सिहर उठते हैं ! आँखों में आँसू आते हैं, पर करुणा के विकास के लिए यद्येष्ट अवकाश ही नहीं मिलता । जिस प्रकार ओथेलो ने अपनी अनुरक्ता पत्नी को भ्रमवश दुर्चरित्र समझकर एक क्षण भी जीने न दिया, उसी प्रकार शेक्सपियर ने इस जघन्य व्यापार का दृश्य दिखलाकर हमारी करुणा को विकसित होने का क्षणभर भी अवसर न दिया । हमारे हृदय में निरपराध डेस्डिमोना के लिए पर्याप्त करुणा है, पर उससे कहीं विशेष उसके निर्मम हत्यारे ओथेलो के प्रति घृणा तथा क्रोध के भाव हैं ।

अब उपर्युक्त घटना पर ही एक बार फिर स्थिर होकर विचार करना चाहिए । ओथेलो का अपनी पत्नी पर क्रोध करना किस दृष्टि से अक्षम्य है और किस विचार से क्षम्य । निरपराध नारी का वध उपर्युक्त भावों करना एक गृहित अपराध है, पाप है । इस वृत्त पर हमारे का मन में आवेग उठता है, हम तत्काल कह देते हैं, ओथेलो विवेचन अपराधी है; किन्तु सर्वत्र मन के आवेग से काम नहीं चलता । हमारे हृदय में डेस्डिमोना के लिए जितनी करुणा संचित होगी, उतना ही ओथेलो के प्रति क्रोध, तिरस्कार, घृणा के भाव उद्दीप्त होंगे । एक भाव दूसरे पर आश्रित हैं । यदि हम पहले से यह न जानते होते कि डेस्डिमोना निर्दोष है, पतिपरायणा है, तो उसके लिए हमारे हृदय में सुकुमार भावनाओं की सृष्टि ही न होती । हम भी ओथेलो के कार्य का अनुमोदन करते और अपनी भूल पर उसी समय पश्चात्ताप या विलाप करते जिस समय ओथेलो ने अपनी अनुरक्ता पत्नी की हत्या पर हृदय के समस्त भावों को थोड़े में ही व्यक्त किया है । वह अपरिसीम वेदना है । डेस्डिमोना हमारे हृदय के अत्यन्त समीप उस समय ही पहला पक्ष जाती है जिस समय उसकी वह बात याद आती है, जो उसने अपनी मृत्यु को सन्निकट देखकर ओथेलो से कही थी—‘मेरे देव, मैं अपनी मृत्यु के भय से नहीं काँप रही हूँ; मैं यह सोचकर दुःख से विह्वल हो रही हूँ कि मेरे मरने के बाद जब तुम्हें यह मालूम होगा

कि मैं कितनी निर्दोष तथा पति-परायणा थी, तब तुम्हें कितना घोर दुःख होगा !' इस बात से हमारी करुणा डेस्डिमोना के लिए बहुत बढ़ जाती है और इसी अनुपात से ओथेलो पर हम अपना क्रोध, क्षोभ, घृणा आदि प्रकट करते हैं ।

इस सारे आख्यान का दूसरा पक्ष भी है । सत्य निर्लेप होता है, पर उससे उत्पादित ज्ञान को हम सदा विशुद्ध नहीं मान सकते । ज्ञान-संचय के समय कभी-कभी हम अपने मनोवेग, संस्कार, विचार-दूसरा पक्ष हीनता से प्रभावित होकर उन बातों को भी स्वीकृत कर लेते हैं, जो सत्य के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं रहतीं । मनुष्य का हृदय शम-प्रधान नहीं है; अतः हमारा निर्णय प्रायः मनोवेग के अनुकूल ही रहता है । ह्यूम का कहना है कि तर्क बराबर मनोवेग का अनुगामी बना रहता है । वह हमारी भावनाओं को पुष्ट करने में विशेष तत्पर रहता है । यदि ऐसा न हो, तो संसार में कोई कार्य असंगत नहीं हो सकता । मनोवेग के सम्मुख तर्क निस्तेज हो जाता है । जब कोई व्यक्ति अपने दुर्दम्य मनोवेग से प्रेरित होकर किसी की हत्या करने चुपचाप जाता है, तब वह रास्ते में सोचता है—क्या यह अच्छा है ? कहीं पकड़ा न जाऊँ ! उसके परिजन को कितना दुःख होगा ! परन्तु, उसकी कुप्रवृत्ति सिर पर सवार होकर कहती है—तर्क-वितर्क छोड़ो, अपना काम करो । हत्या तुम्हें करनी पड़ेगी । इस स्थिति में रखकर ओथेलो को एक बार फिर न्याय करना चाहिए । ओथेलो ने जिस परिस्थिति में पड़कर अपनी पुण्यात्मा पत्नी की हत्या की, वह एक अवश्यम्भावी व्यापार है । इस हत्या के बिना नाटक का मेरुदण्ड ही टूट जाता है । यदि ओथेलो को अपनी पत्नी की सच्चरित्रता पर विश्वास होता, तो यह घटना ही न उपस्थित होती । वह अपनी पत्नी के कलंक की बात सुनते ही पागल हो उठा, उसका मनोवेग इतना प्रबल हो गया कि वह अपने को शान्त न रख सका, हत्या कर बैठा । बहुत सम्भव है, कोई दूसरा व्यक्ति भी अपनी परिणीता पर अविश्वास कर ऐसा ही कुछ कर दे । अपने प्रेम की वस्तु पर दूसरे का हस्तक्षेप देखकर मन में स्वभावतः ईर्ष्या तथा क्रोध के भाव उठते हैं । ओथेलो ने यही समझकर पतिव्रता डेस्डिमोना—अपनी भूल से कलंकिनी डेस्डिमोना—की हत्या कर दी । उसने आवेश में ऐसा किया, अन्यथा उसके निर्बोध हृदय में भी प्रेम के लिए स्थान था । इन

सब बातों पर विचार करने से ओथेलो के प्रति हमारे हृदय में क्रोध, तिरस्कार, घृणा आदि के जो भाव हैं, वे धीरे-धीरे शान्त होने लगते हैं। हम समझते हैं, मनुष्य अन्तर्यामी नहीं है। उसने दूसरे के बहकावे में पड़कर अपनी प्राण-स्वरूपा पत्नी की हत्या कर स्वयं अपने ही सिर पर विपत्ति, वेदना, पश्चात्ताप का दुर्वह बोझ लादा है। यह सोचकर हम उसके कुछ पक्षपाती हो जाते हैं, अपने हृदय में उसके लिए थोड़ी सहानुभूति भी रख लेते हैं। डेस्डिमोना हमारे लिए वही डेस्डिमोना बनी रहती है। उसके सम्बन्ध में हमारे भावों में कोई परिवर्तन नहीं होता।

इन दोनों दृष्टियों से रसानुभूति का तत्त्व निश्चित करना चाहिए। रसपरिपाक के लिए आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण तथा वर्णित आश्रय के साथ तादात्म्य होना आवश्यक है। पहली दृष्टि में हम निरपराध डेस्डिमोना पर किये गये क्रोध, अत्याचार, घृणा, हत्या का कदापि समर्थन नहीं कर सकते। बेचारी डेस्डिमोना की स्थिति से हमारा तादात्म्य हो जाता है। हम उसी के शब्दों में हत्यारे ओथेलो से कहते हैं—जान मत लो, रात-भर भी जीने दो। थोड़ी देर ईश्वर की याद कर लेने दो। किन्तु, कठोर ओथेलो का विवेचन कुछ सुनता नहीं, वह जैसे हमारी गर्दन को ही पकड़कर मरोड़ देता है। करुणा की अनुभूति से हमारा हृदय भर जाता है; पर ज्योंही हम ओथेलो को देखते हैं, हम घृणा से आँखें फेर लेते हैं। रसानुभूति के लिए यही प्रथम दृष्टि अच्छी है। दूसरी दृष्टि से इस हत्याकाण्ड को देखने के लिए पाठक या श्रोता धैर्य और शान्ति नहीं रख सकते। नाटक या प्रबन्ध-काव्य में हमारे सामने घटनाओं के घात-प्रतिघात आते-जाते हैं और हम तदनुकूल ही अपने मन में रसों का अनुभव करते चलते हैं। किसी दृश्य को देखकर या काव्य में किसी घटना को पढ़कर हम, उस समय निष्कम्प रहकर, किसी घड़ी के बाद उस भाव से अपने-आपको अनुभव कराना पसन्द नहीं करते। सच्ची बात यहाँ पसन्द से भिन्न है। वास्तव में, हम अपने मन पर अधिकार नहीं रख सकते। जिस समय जो घटना हुई, उसी समय हमारे मन में दुःख-सुख के कुछ-न-कुछ विकार का उत्पन्न होना

निश्चित है। कुछ काल के बाद या समय-समय पर हम अपने मन में जो कुछ सोचते हैं, वह विचार है, रसानुभूति नहीं।

मस्तिष्क और चेतना का सम्बन्ध एक परिचित घटना से स्पष्ट हो सकता है। जब हम किसी पुस्तक को पढ़ते हैं, तब तत्काल ही हमारी चेतना में उसका भाव आता है और विपर्यस्त हो जाता है। यही भाव और विचार भाव जब बार-बार उपस्थित होता है, तब वह विचार बन जाता है। रसानुभूति के लिए भाव चाहिए, विचार नहीं। दूसरी दृष्टि से ओथेलो के साथ थोड़ा पक्षपात हम विचार और तर्क से ही करते हैं। अतः, रस के विषय में इसका कुछ महत्त्व नहीं।

काव्य का आधार केवल बाह्य सौन्दर्य पर ही आलम्बित नहीं है, उसमें हृदय की अन्तर्वृत्ति का विश्लेषण ही मुख्य है। जो भाव विस्तृत जन-समाज के हृदय के साथ सामंजस्य रखता है, उसी से काव्य में यथार्थ सौन्दर्य का विधान किया जाता है। काव्य ही एक ऐसा स्थल है, जहाँ

अन्तर्वृत्ति घृणा, क्रोध, उपहास, ईर्ष्या, तिरस्कार आदि में भी
का सौन्दर्य है। बाह्य सौन्दर्य पर ही लुभानेवाले मूढ़ होते हैं।

सौन्दर्य अन्तर्वृत्ति का सौन्दर्य ही काव्य का प्राण है। शबरी की

भक्ति-प्रवण सहृदयता जानकर क्या कभी कोई पाठक या श्रोता यह जिज्ञासा कर सकता है कि उसकी आँखें कमल-सी थीं या नहीं, उसकी नाक सुग्गे की चोंच की तरह थी या नहीं, उसके शरीर का रंग चम्पा-फूल की तरह था या नहीं ! शबरी के कोमल हृदय को पाकर उसके शारीरिक सौन्दर्य की जिज्ञासा ही नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार पंचवटी में अनेक हाव-भाव और अलंकार से सुसज्जित होकर आई हुई शूर्पणखा के लिए किसी के हृदय में कोमल भावनाओं की सृष्टि नहीं होती। जहाँ बाह्य और अन्तःसौन्दर्य का सम्मिलन है, वहाँ काव्य की भावना अत्यन्त ही ऊँची रसभूमि पर पहुँच जाती है। रस की प्रतीति के लिए सौन्दर्य-वर्णन में नायक या नायिका के कोमल और सुष्ठु भावों का चित्रण अवश्य ही रहना चाहिए।

सौन्दर्य का परम उत्कर्ष हमें रसानुभूति से दूर ही रखता है—यह सौन्दर्य चाहे बाह्य हो या आन्तरिक। अन्तःसौन्दर्य का चित्रण इतने अतिप्राकृत

ढंग से न हो, जिससे उसकी अलौकिकता या विरलता प्रतीति में बाधक हो जाय।^१ बाह्य सौन्दर्य के वर्णन में भी यही दृष्टिकोण अपेक्षित है। जबतक वर्णित सौन्दर्य का आधार लौकिक नहीं रहेगा, तबतक उसमें रस-संचार की पूरी क्षमता नहीं आ सकती। विहारी की एक नायिका अतिप्राकृत सौन्दर्य और रसानुभूति का वर्णन— 'सूधे पाइ न घर परै सोभा ही कौं भार'— पढ़कर, कोई रसात्मक अनुभूति नहीं होती। ऐसी नायिका हमारी शृंगारिक भावना को परितुष्ट नहीं कर सकती। इससे आश्चर्य या कुतूहल ही बढ़ता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि अद्भुत भी तो एक रस है, फिर उसकी रसात्मक अनुभूति क्यों न होगी? इसका उत्तर यही है कि विहारी की नायिका हमारी शृंगारिक भावना को ही परितुष्ट करने के लिए वर्णित की गई है, विस्मय के आलम्बन के रूप में नहीं। जो रसानुभूति अभीष्ट नहीं है, उसकी प्रतीति रस-भंग, रस-विरोध, रस-हानि, रसाभास का ही उदाहरण हो सकती है। विहारी की नायिका शृंगार रस से तो अलग हो ही गई है, अद्भुत रस की अनुभूति भी वह नहीं करा सकती। उक्ति-वैचित्र्य से ही अद्भुत रस का परिपाक नहीं हो सकता। जबतक मूल वस्तु में किसी प्रकार की विचित्रता नहीं रहेगी, तबतक केवल उक्ति-वैचित्र्य से अद्भुत रस का अनुभव नहीं कराया जा सकता। इसी उक्ति-वैचित्र्य के भ्रम में पड़कर रस और अलंकार के कितने आचार्यों ने सूरदास के—'अद्भुत एक अनूपम बाग'— पद को अद्भुत रस का उदाहरण लिखा है। वास्तव में यह नख-शिख-वर्णन है और शृंगार रस का शुद्ध उदाहरण है।

१. यहाँ एक अंगरेज समालोचक की बात हमें याद आती है। उसने रामायण और महाभारत की प्रासंगिक आलोचना करते हुए लिखा है कि इन महाकाव्यों में अलौकिक क्रोध, अलौकिक क्षमा, अलौकिक रण-कौशल आदि वर्णित हैं, इसलिए वे विश्वसनीय नहीं हो सकते। इस कथन पर हमें कुछ कहना नहीं है। यह संस्कृति और सभ्यता का अन्तर है। पर, काव्य में वस्तुतः बात-बात में अलौकिकता-प्रदर्शन से रस-हानि होती है, यह मानना पड़ेगा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने निबन्ध में^१ वैचित्र्य के साक्षात्कार से तीन प्रकार के रसानुभव की चर्चा की है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पाश्चात्य दृश्य-काव्यों में शील-वैचित्र्य की ओर प्रधान वैचित्र्य का लक्ष्य रहता है और भारतीय आचार्यों का ध्यान तादात्म्य साक्षात्कार और साधारणीकरण की ओर विशेष रहता है। वैचित्र्य से आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, आश्चर्यपूर्ण अवसादन और कुतूहल-मात्र हो सकते हैं। जहाँ शील का चरम उत्कर्ष या सात्त्विक आलोक का साक्षात्कार होता है, वहाँ पाठक या श्रोता को आश्चर्यपूर्ण प्रसादन होता है।

राजा हरिश्चन्द्र के डोम की नौकरी करते हुए श्मशान में आश्चर्यपूर्ण अपनी दुखिया रानी शैव्या से रोहिताश्व के अग्नि-संस्कार के प्रसादन लिए आधा कफन माँगने के दृश्य से, नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन का भूखे गरुड़ से अपना मांस खाने के लिए अनुरोध करने के दृश्य से ऐसे शील-वैचित्र्य का साक्षात्कार होता है, जिससे श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्य-मिश्रित श्रद्धा या भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार के उत्कृष्ट शीलवालों की भावव्यञ्जना में मनुष्य का हृदय लीन हो सकता है। जहाँ शील के अत्यन्त पतन या तामसिक घोरता

का साक्षात्कार होता है, वहाँ आश्चर्यपूर्ण अवसादन का अनुभव आश्चर्यपूर्ण होता है। यदि किसी काव्य या नाटक में ऐसे पात्र का वर्णन अवसादन किया जाय, जो मनुष्य के रोने, चिल्लाने, तड़पने के दृश्य से अपने आह्लाद की व्यञ्जना करे, तो उसके आह्लाद में किसी

पाठक या श्रोता का योग देना सम्भव नहीं है। वैसे पात्र की दुःशीलता और विचित्रता से मनुष्य के हृदय में आश्चर्य-मिश्रित विरक्ति, घृणा, तिरस्कार का भाव ही उत्पन्न होगा। इन दोनों प्रकार के शील-वैचित्र्यों के सिवा एक ढंग का और भी शील-वैचित्र्य बताया जाता है, जिसके साक्षात्कार से न स्पष्ट

प्रसादन होता है, न स्पष्ट अवसादन; एक प्रकार का मनोरंजन कुतूहल या कुतूहल ही होता है। इस प्रकार की प्रकृति के चित्रण को डण्टन (T. W. Dunton) ने कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि का सूचक और काव्य-कला का चरम उत्कर्ष कहा है। आचार्य

१. रामचन्द्र शुक्ल : साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद (द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ), पृ० १५२

रसानुभूति का तत्त्व

शुक्ल ने डण्टन की इस निरपेक्ष दृष्टि या नूतन निर्माणवाली कल्पना की संक्षिप्त मीमांसा की है। विषयान्तर के भय से हम यहाँ उसकी समीक्षा नहीं करते।

काव्य में रसानुभूति के दो स्वरूप लिये जाते हैं—एक तो कवि अपनी काव्यानुभूति का चित्रण करते हुए रस की प्रतीति कराता है, और दूसरे केवल विभावों का चित्रण कर रसोद्रेक के लिए पाठक या रसानुभूति के श्रोता को अपनी भावना पर छोड़ देता है। रस-निरूपण-स्वरूप पद्धति में बाह्य प्रकृति को आलम्बन नहीं बनाया गया है, वह केवल उद्दीपन के रूप में ही वर्णित की गई है। संस्कृत-काव्य में कहीं-कहीं बाह्य प्रकृति का चित्रण आलम्बन के रूप में हुआ है, जिसका आश्रय कहीं तो कोई पात्र रहता है और कहीं स्वयं कवि। हिन्दी-काव्य में ऐसे वर्णन बहुत कम मिलते हैं। नायिका-भेद की परम्परा चल पड़ने के कारण बाह्य प्रकृति को उद्दीपन-विभाव के कार्य से छुट्टी ही न मिली।

जब मनुष्य का हृदय रति, शोक, हास, क्रोध, भय आदि भावों से भरा रहता है, तब उन भावों का सगस्त अंश कभी व्यक्त नहीं होता, कुछ व्यक्त होता और कुछ अव्यक्त ही रह जाता है। जो अंश अव्यक्त रहता है, उसका अस्तित्व भाव-जगत् से सदा के लिए विलीन नहीं हो जाता। अव्यक्त रहने से ही उसकी मार्मिकता बढ़ जाती है। जो व्यक्त होता है वह अपने स्वरूप का परिचय पाठक या श्रोता से तो करा ही देता है, अव्यक्त की ओर भी मार्मिक

संकेत कर देता है, जिससे पाठक या श्रोता अपने हृदय के भावों व्यक्ताव्यक्त की एक उमड़ती हुई लहर पा जाते हैं। यदि काव्यकार हृदय के भाव समस्त भावों का एक-एक कर वर्णन करने लगे, तो यह कार्य भलीभाँति स्वाभाविक रीति से सम्पन्न होना कठिन है और सबसे बड़ी हानि इसमें यही है कि ऐसे भाव-प्रदर्शन से पाठक या श्रोता को आनन्द नहीं मिलता। अपनी भावना का लाभ वह नहीं उठा सकता। आधुनिक रसज्ञों की यह एक विशेषता है कि वे भाव-विश्लेषण से अधिक भाव-संकेत के आनन्द का ही उपभोग करते हैं।^१ इसके स्पष्टीकरण के लिए

१ ".....It is the evident characteristic of modern genius to study and enjoy expression,—the suggestion of the not-given—rather than form, the harmony of the given.

—George Santayana : The Sense of Beauty, p. 174.

उदाहरण देना आवश्यक मालूम पड़ता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में शकुन्तला के चरित्र की जो विशेषता कालिदास ने दिखाई है, वह बहुत-भाव-संकेत कुछ भाव-संकेत पर ही निर्भर करती है। शकुन्तला-दुष्यन्त के प्रणय-व्यापार के उपरान्त, दुष्यन्त के राजधानी चले जाने के बाद, शकुन्तला के मुख से, कवि ने व्यर्थ ही वियोग की कारुणिक उक्तियों से पाठकों का हृदय नहीं हिलाया है। शकुन्तला के हृदय का समस्त भाव केवल एक ही घटना से व्यक्त हो गया है। वह अपने पति की चिन्ता में निमग्न थी और कोप-सुलभ दुर्वासा श्रृंगार भिक्षा न पाकर उसे शाप दे गये। राजा दुष्यन्त ने जब भरे दरबार में शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर दिया, तब यदि कालिदास चाहते, तो शकुन्तला के मुख से उसके हृदय का विषाद श्लोक-के-श्लोक रचकर व्यक्त कर सकते थे; पर वहाँ भी परिमित शब्दों में ही शकुन्तला के हृदय की वेदना व्यक्त हुई है। स्वर्ग से लौटने के बाद, मरीचि के आश्रम में, जब शकुन्तला और दुष्यन्त से भेंट हुई है, तब सर्वदमन के राजा दुष्यन्त का परिचय पूछने पर शकुन्तला ने केवल इतना ही उत्तर दिया—अपने भाग्य से पूछो। इसी उत्तर में उसके हृदय का समस्त भाव, पति का अन्याय, दैव का अत्याचार आदि सब सम्मिलित हैं। ये सब ऐसे स्थल हैं, जहाँ कवि चाहते तो विषाद-व्यंजना में अपनी लेखनी सरपट दौड़ा सकते थे; पर कवि ने संयम से काम लिया। शकुन्तला के विषाद की ओर संकेत-मात्र कर दिया है

और इतने से ही मानव के हृदय में कष्ट का स्रोत वहने भाव-विश्लेषण लगता है। भवभूति ने अपने उत्तररामचरित में राम से सीता का प्रत्याख्यान कराकर भाव-संकेत से बहुत कम काम लिया है। उन्होंने राम के हृदय की प्रायः सब भावनाएँ पाठकों के आगे रख दी हैं। राम के अन्तःकरण का कोना-कोना वे झाँक गये हैं, पाठकों के अनुमान के लिए बहुत थोड़ा अवसर रखा है। उत्तररामचरित के तीन अंक तो केवल आँसू बहाने में ही खर्च कर दिये गये हैं। हृदय के प्रत्येक भाव का विश्लेषण कर उन्होंने अपने श्लोकों को सजाया है। इतना होने पर भी यह कौन साहस कर कह सकता है कि कालिदास ने भवभूति से कम कष्ट की धारा बहाई ! बिजली का बटन दबाते ही अन्धकार में जो उज्ज्वल प्रकाश फैल जाता है उसकी बराबरी वह आग नहीं कर सकती, जो मुँह से फूँक-फूँककर जलाने पर भी धुएँ से भरी रहती है।

रसानुभूति के तत्त्व के सम्बन्ध में जो मुख्य-मुख्य बातें थीं, उनका संक्षेप में ऊपर विवेचन कर दिया गया है। रस की अनुभूति से मनुष्य अपने मन के अतिरिक्त तेज को बाहर निकालता है। इसका प्रयोजन केवल काव्य में ही नहीं है; जीवन की अनेक घटनाओं के कारण, प्रतिदिन मनुष्य, अपने मन के अतिरिक्त तेज का व्यय करता ही रहता है।

रस का प्रयोजन इसपर अवतक साहित्य-शास्त्र में जितना विवेचन और उनके नवीन, हुआ है, यद्यपि वह कम नहीं कहा जा सकता, तथापि ढंग से विवेचन अभी उसपर नवीन ढंग से विवेचन करने की बड़ी की आवश्यकता आवश्यकता है।^१ सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास से

मनुष्य के भाव-जगत् में भी काफी परिवर्तन हुए हैं। अतएव, उसपर आश्रित रहनेवाले रस के विवेचन में भी तदनुकूल परिवर्तन और परिवर्द्धन होना आवश्यक है।



१. इस विषय पर लेखक की 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' नामक पुस्तक में विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

चौथा अध्याय

अलंकार और प्रभाव

काव्य के दो प्रधान पक्ष हैं—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। अलंकार का प्रयोजन कला-पक्ष को पूर्ण करना है। भाव-पक्ष के उत्कर्ष के लिए जबतक कला-पक्ष का सौन्दर्य न बढ़ाया जायगा, तबतक उसमें प्राक्कथन प्रभाव का आरोप नहीं किया जा सकता। किन्तु, इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि अलंकार के बिना भाव-पक्ष का उत्कर्ष व्यंजित किया ही नहीं जा सकता। कला-पक्ष की व्याप्ति अलंकार तक ही सीमित रखने से ऐसी बाधा खड़ी होती है, पर साधन को साधन मानकर चलने में ही काव्य की सार्थकता है; साधन को साध्य बनाने से उसका गौरव नष्ट हो जाता है। अलंकारों की प्रकृति पर दृष्टि रखते हुए यह कहना अयुक्तियुक्त नहीं कि वे भाव-प्रकाशन के भिन्न-भिन्न साँचे हैं।

काव्य के कथन के लिए दो प्रकार की युक्तियाँ काम में लाई जाती हैं—वर्ण्य वस्तु का वर्णन और अलंकार की सिद्धि के लिए कुछ कहना। वर्ण्य वस्तु का वर्णन ही काव्य का मुख्य ध्येय है। हिन्दी में बहुत दिनों तक केवल अलंकार की पुष्टि के निमित्त ही काव्य की रचनाएँ हुईं।

अलंकार काव्य पर इसका प्रभाव बहुत बुरा पड़ा। अलंकार का मुख्य उद्देश्य है भाव को तीव्र करना। अलंकार की सबसे बड़ी कसौटी यही है कि काव्य में हम किसी उक्ति-व्यंजना की पूर्णता और बोधगम्यता पर ही ध्यान देते हैं, उसमें अलंकारत्व नहीं खोजते। उपमा है या नहीं, उत्प्रेक्षा हुई या नहीं, रूपक का निर्वाह हुआ या नहीं—इन प्रश्नों को लेकर हम व्यर्थ की माथापच्ची नहीं करते। यदि काव्य के पाठक या श्रोता का ध्यान उक्ति की व्यंजना से हटकर अलंकार-निर्वाह की ओर जाय, तो शायद यह कहने में किसी साहित्य-शास्त्री को आपत्ति न होगी कि काव्य का साध्य अलंकार ही है। किन्तु, काव्य की प्रवृत्तियों के सूक्ष्म विवेचन के समय हम मनोविज्ञान को पीछे छोड़ नहीं सकते। अलंकारवाद की प्रधानता से काव्य का स्वरूप, बोध के रूप में ही,

स्थिर किया जाने लगा, भाव या रस के रूप में नहीं। काव्य में चमत्कार-विधान के लिए अलंकार का प्रयोजन है, इस बात को कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता। साथ ही, इसपर भी ध्यान देना आवश्यक है कि काव्य में चमत्कार ही सब कुछ नहीं और न सर्वत्र चमत्कार दिखलाया ही जा सकता है। हिन्दी के रीतिकाल के कवियों ने, व्यक्तियों की सूक्ष्म मनो-वैज्ञानिक विशेषताओं तथा विचित्रताओं पर ध्यान न देकर, काव्य को एक निर्दिष्ट शैली के अन्तर्गत ही रख, अपने वाग्विस्तार, उपमा-कौशल, वर्णन-नैपुण्य का उपलक्ष्य बना दिया। वस्तु-विन्यास पर बहुत कम ध्यान देकर वर्णन के उपलक्ष्य-मात्र से भाषा पर व्यर्थ ही अलंकारों का इतना बोझ डाल दिया गया, जिससे उसकी प्रांजलता नष्ट हो गई।

प्रसिद्ध अभिव्यञ्जनावादी क्रोचे ने अलंकार को उक्ति से पृथक् नहीं माना। उसने अलंकार-अलंकार्य का भेद ही स्वीकृत नहीं किया। अलंकार को भाव-प्रकाशन का चामत्कारिक अंग मानने से वस्तु से स्वतः उसकी पृथक्ता प्रामाणित हो जाती है। अलंकार-मात्र में वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति की व्यापकता रहती है, यह प्रत्येक अलंकारवादी को मालूम है। अलंकार की सार्थकता वस्तु से पृथक् रहकर ही भावोत्तेजन में योग देना है, परन्तु साहित्य-शास्त्र में अलंकारों की संख्या इतनी अपरिमित हो गई कि अलग-अलग ढाँचे के रूप में अलंकारों का निर्वाह असम्भव हो गया। इसका परिणाम यही हुआ कि अधिकांश अलंकार वस्तु से पृथक् न रहकर बिलकुल उसमें मिल गये। असम, अधिक, अनुमान, असम्भव, उल्लेख, उदाहरण, उल्लास, उदात्त, काव्यार्थापत्ति, काव्यलिंग, तिरस्कार, निश्चय, प्रत्यनीक, प्रतिषेध, परिसंख्या, पर्याय, प्रहर्षण, भ्रान्ति, भाविक, मुद्रा, युक्ति, लेश, लोकोक्ति, वीप्सा, विरोध, विषादन, विकल्प, विशेषोक्ति, विचित्र, विधि, व्याघात, सम, समाधि, सहोक्ति, समुच्चय, सामान्य, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों सूक्ष्म, स्वभावोक्ति, स्मरण, सन्देह, हेतु आदि अनेक में अलंकार वस्तु या भाव से अपनी पृथक् सत्ता रखने में पूरे अलंकार का प्रवेश समर्थ नहीं हैं। वस्तु या भाव यदि स्वतः चमत्कृत है, तो उसमें व्यर्थ ही अलंकारत्व का आरोप कर उसे श्रेय देने से लाभ नहीं। जो नायिका स्वयं रूपवती है, उसके रूप का श्रेय दूसरे को नहीं मिल सकता। अलंकारों की उपर्युक्त सूची में, सम्भव है, कुछ ऐसे

अलंकार भी हों, जिन्हें वस्तु से पृथक् रखने का आग्रह किया जा सकता हो; परन्तु इसके साथ यह न भूलना चाहिए कि अलंकारों ने केवल वस्तु पर ही अपना अधिकार नहीं जमाया; न्याय, काल (tense), वाणी और क्रिया के क्षेत्रों को भी अलंकारों ने अपना लिया है।

क्रोचे ने अलंकार के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वही हमारा मान्य नहीं हो सकता। हम अपने साहित्यशास्त्र की कसौटी पर ही अलंकारों की समीक्षा करना चाहते हैं। उक्ति में स्वाभाविक रूप से मिला हुआ जो चमत्कार

आ जाता है उसके लिए अलंकार की संज्ञा अनुपयुक्त ही नहीं, उक्ति उल्लेख को बढ़ानेवाली भी है। इससे क्रोचे के 'उक्ति ही और काव्य है'—कथन का विरोध नहीं होता। काव्य में अलंकार अलंकार की स्थिति अनिवार्य मानी जाती, तो क्रोचे का विरोध सम्भव था। अलंकार को काव्य से पृथक् मानने में ही उसकी

प्रतिष्ठा है। आचार्य मम्मट, कविराज विश्वनाथ आदि ने अलंकार को काव्य का नित्य अंग नहीं माना; किन्तु जो नित्य नहीं है वह पृथक् भी रह सकता है, इसपर संस्कृत के आलंकारिकों ने विचार नहीं किया। अलंकार का प्रधान उद्देश्य वस्तु का बोध-मान कराना नहीं हो सकता; 'भाव को तीव्र करने में कभी-कभी सहायक होनेवाली योजना ही अलंकार है' और उसका उद्देश्य स्पष्ट है। यदि वस्तु के बोध कराने में भी अलंकार की व्याप्ति मानी जाय, तो साधारण-से-साधारण उक्ति में भी अलंकारत्व मानना पड़ेगा; अतिव्याप्तिपूर्ण स्वभावोक्ति का क्षेत्र बिलकुल ही मुक्त कर देना पड़ेगा। सादृश्य-मूलक अलंकार में बहुत-थोड़े ऐसे हैं, जिनमें चमत्कार या सौन्दर्य की सत्ता पृथक् बताई जा सकती है। वाच्यार्थ के चमत्कार में ही वास्तविक अलंकारत्व मानना चाहिए; जहाँ सादृश्य-व्यंग्य रहे, वहाँ प्रायः वह वस्तु या भाव की अपनी सम्पत्ति है। उदाहरण के लिए उपमा को लीजिए। 'सीता का मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है'—इस वाक्य में जो कुछ है, वह वाच्यार्थ है; लक्षणा और व्यंजना के लिए, प्रकरण से भिन्न रहने पर, इसमें थोड़ी भी गुंजाइश नहीं। सीता के मुख की सुन्दरता वस्तु है और इसका बोध 'सीता का मुख सुन्दर है' कहने से ही हो जाता है। किन्तु, अप्रस्तुत-विधान के लिए चन्द्रमा को पकड़कर वाक्य में बैठाना पड़ता है—सीता का मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है। इस प्रकार चन्द्रमा को उपमान के रूप में रखने से इस

वाक्य में एक अतिरिक्त सौन्दर्य आ जाता है। इसी अतिरिक्त सौन्दर्य-विधान को हम अलंकार कहते हैं। सादृश्यमूलक अलंकार का एक दूसरा उदाहरण लीजिए। वन में हरिणी को हरिण के साथ उछलते-कूदते भाव के क्षेत्र में देखकर विरही राम को सीता की याद आई। आलंकारिक अलंकार निस्सन्देह इसे स्मरणालंकार कहेंगे। अब इस वाक्य की मीमांसा कर देखिए, इसमें भावगत सौन्दर्य ही है या कुछ अतिरिक्त भी। 'स्मरण' में सादृश्य-व्यंग्य रहता है और यहाँ राम और सीता का दाम्पत्य जीवन व्यंग्य है। हरिण-हरिणी को देखकर सीता की याद आना, इस वाक्य का एक अपरिहार्य अंग है। यदि इतना ही कहा जाय—विरही राम को सीता की याद आई, तो यथार्थ स्थिति का बोध नहीं होता; स्थिति और भाव की स्पष्टता के लिए इस वाक्य में हरिण-हरिणी का रहना आवश्यक है। यदि वन में राम हरिण-हरिणी को एकत्र न देखते तो सम्भव था, उस समय उन्हें सीता की याद न आती। अतः, इस वाक्य का कोई खण्ड भाव-बोध की दृष्टि से निवार्य नहीं। अतिरिक्त सौन्दर्य नामक कोई वस्तु इस वाक्य में नहीं; जो कुछ है वह भावगत है। विषय को स्पष्ट करने के लिए इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण लीजिए। 'बलदेव सड़क पर पड़ी हुई रस्सी को साँप समझकर भय से उछल पड़ा !'—इस वाक्य में अलंकारवादी के मतानुसार भ्रमालंकार है। साँप और रस्सी का सादृश्य यहाँ व्यंग्य रखा गया है। बलदेव का भय से उछल पड़ने का कारण है—रस्सी को साँप समझना। किसी भयावनी वस्तु को देखकर या भ्रम में पड़कर भय से उछल पड़ना मन और शरीर-धर्म की एक वृत्ति है। इसका निराकरण अलंकार मानने या न मानने से नहीं होता। यदि बलदेव वस्तुतः साँप को ही देखकर भय से उछल पड़ता, तो आलंकारिक इस वाक्य में कुछ सौन्दर्य नहीं पाते। पर झगड़े की जड़ तो रस्सी है। इस रस्सी में भ्रमालंकार का समस्त सौन्दर्य सुरक्षित है। अब थोड़ी देर के लिए मनोविज्ञान को भी साथ में ले लीजिए। यदि बलदेव को यह मालूम हो जाता कि सड़क पर पड़ी हुई रस्सी ही है, साँप नहीं, तो उसे भय न होता। वह जान-बूझकर नहीं उछलता, उसे साँप का वास्तविक ही भय हुआ था। यदि उसे यह बात मालूम रहती कि उसके उछलने से ही यहाँ भ्रमालंकार हो जाता है, तो उसका भाव सत्य और विश्वसनीय न

होता। उसका भय कल्पित नहीं, वास्तविक है। जिस अलंकार-विधान में कल्पना की सहायता नहीं रहती, उसमें अलंकारत्व मानने या मनवाने का दुराग्रह नहीं होना चाहिए। भाव की महत्ता स्वतन्त्र रहने में ही है। कभी-कभी उसे अपनी स्थिति को तीव्र रूप में प्रकट करने के लिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और यही उसमें अलंकारत्व मिलता है। स्मरण, भ्रम, सन्देह, प्रहर्षण, विषादन, तिरस्कार आदि हृदय की वृत्तियाँ हैं। इनमें अलंकारत्व मानना इनके प्राकृत रूप का निरादर करना है। आदर, आश्चर्य, घृणा, पश्चात्ताप आदि के भावों को प्रकट करने में वीप्सालंकार मानना कहाँ तक उचित माना जा सकता है? हृदय के कारणभूत या आकस्मिक उद्गार में अलंकार के आरोप का प्रयत्न हास्यास्पद है। 'राम-राम, आपने यह क्या किया!' इस वाक्य में वीप्सालंकार को जगह देने से यह कहना मुश्किल हो जाता है कि अलंकार कहाँ नहीं है!

भाव से भिन्न दूसरी ओर भी अलंकारों ने दूसरों को वेदखल कर दिया है। न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार और वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान—ये दो प्रमाण न्याय तथा दर्शन माने गये हैं। लेकिन, चन्द्रालोककार जयदेव ने न्याय तथा के क्षेत्र में दर्शन से भी वाजी मारकर प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, अलंकार उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य—ये आठ प्रमाणालंकार माने हैं। यह वेदखली संस्कृत तक ही रहती, तो कोई हर्ज न था। हिन्दी के आलंकारिकों ने भी आठों प्रमाणालंकारों की सोदाहरण परिभाषाएँ लिखी हैं। नमूने के लिए सम्भव-प्रमाण का एक उदाहरण लीजिए।

ठाकुर कहत कछु कठिन न जानो याहि
हिम्मति किये ते कहो कहा न सुघरि जाय ।
चारि जने चारिहु दिशा सों चारों कोन गहि
मेरु को हिलाय कौ उखारें तो उखरि जाय ॥ —ठाकुर

इस कविता का तात्पर्य यही है कि हिम्मत करने से सब काम हो सकते हैं और यहाँ सम्भव-प्रमाणालंकार की पुष्टि के लिए कहा गया है कि चार आदमी मेरु पर्वत के चारों कोनों को पकड़-हिलाकर उखाड़ें, तो वह उखड़ जाय। अब यही विचार करना है कि इसमें आलंकारत्व क्या है। इसमें एक-

मात्र प्रोत्साहन का भाव है। चार आदमियों से मेरु पर्वत का उखड़ना तो आलंकारिकों के अनुसार असम्भव अलंकार है, किन्तु उत्साह की वृद्धि के लिए यहाँ पर्वत उखाड़ने की अनिश्चित सम्भावना दिखाई गई है। अतः, इसमें सम्भव प्रमाण नामक कोई वस्तु नहीं। न्याय के क्षेत्र पर इतना ही अधिकार नहीं किया गया है; काव्यार्थापत्ति, संसृष्टि, संकर, एकवाचकानुप्रवेश संकर एकमात्र न्याय की भित्ति पर ही खड़े किये गये हैं। दण्डपूषिका न्याय पर काव्यार्थापत्ति स्थिर है। तिल-तन्दुल-न्याय हटा लेने पर संसृष्टि-अलंकार समझ में ही नहीं आता। नीर-क्षीर-न्याय के सिवा 'संकर' की संकरता के रहस्य का पता नहीं चल सकता। एकवाचकानुप्रवेश, जो संकर का ही भेद है, नृसिंहाकार-न्याय पर जमकर बैठ गया है। इसी के एक अन्य भेद अंगंगिभाव संकर ने भी बीज-वृक्ष-न्याय को कसकर पकड़ लिया है। अधिकांश उभयालंकारों के आधार न्याय हैं।

न्याय-क्षेत्र को छोड़कर अब वाणी के प्रांगण में आइए। यहाँ भी अलंकार का प्रभुत्व है। काकु-वक्रोक्ति के सम्बन्ध में आलंकारिकों में इस बात पर मतभेद है कि इसे शब्दालंकार के अन्तर्गत मानना चाहिए वाणी के क्षेत्र में या अर्थालंकार के भीतर; किन्तु आचार्यों के मतानुसार निश्चित ही है कि यह एक अलंकार है। पद-भंग-श्लेष अलंकार वक्रोक्ति और पद-अभंग-श्लेष वक्रोक्ति के लिए विशेष चिन्ता की बात न थी, पर काकु-वक्रोक्ति-अलंकार स्पष्टतः वाणी के क्षेत्र में जा पहुँचता है। आर्थी व्यंजना के काकुवैशिष्ट्य तथा गुणीभूत व्यंग्य के काकवाक्षिप्त व्यंग्य में वाणी का जो चमत्कार दिखाया जाता है, उसके लिए कुछ कहना नहीं, पर अलंकार को स्वर की विचित्रता में बाँध रखना कहाँ तक न्याय्य कहा जा सकता है ?

वाणी के बाद क्रिया के क्षेत्र पर अलंकार का अधिकार देखिए। क्रिया-विदग्धा तथा धीरा नायिका के हाव-भावों के स्वाभाविक वर्णन को अलंकार के हवाले कर दिया गया है। सूक्ष्म और पिहित^१-अलंकार क्रिया के क्षेत्र में क्रिया-चेष्टा की विशेषता ही रहती है, किसी भाव को मँ अलंकार तीव्र करने का प्रयत्न नहीं। साधारणतः किसी अभिप्राय का बोध कराना ही सूक्ष्म अलंकार का लक्ष्य हुआ करता है। जैसे—

१. कुछ आचार्य पिहित को स्वतन्त्र अलंकार न मानकर सूक्ष्म का ही एक भेद मानते हैं।

“स्यामबुलावन समुक्षि तिय, चित समुचित सखि सैन ।
ताकि तनक पिय-तन करन, कर धरि मूँदे नैन ॥”

किसी क्रियाविदग्धा नायिका ने अपने प्रिय नायक की दूती की चेष्टा से यह जानकर कि नायक ने मुझे बुलाया है, अपने निकट बैठे पति की ओर तनिक देखकर और अपने कान पर हाथ रखकर आँख मूँदने की क्रिया से यह प्रकट किया है कि पति के सो जाने पर मैं जाऊँगी। इसमें नायिका ने दूती के नयन-संकेत को समझते हुए चेष्टा से अपने जाने की सूचना दी है। पिहित अलंकार भी, जहाँ किसी का छिपा हुआ वृत्तान्त उसके किसी आकार द्वारा जानकर कोई किसी प्रकार की क्रिया से उसका अभिप्राय समझ लेना प्रकट करे, वहाँ होता है। यदि सूक्ष्म और पिहित अलंकार माने जायँ, तो अलंकार की परिभाषा में इस बात की गुंजाइश रखनी पड़ेगी कि अलंकार केवल भाव को ही अलंकृत नहीं करते, प्रत्युत क्रिया का मण्डन भी करते हैं।

अप्पय दीक्षित ने जयदेवकृत ‘चन्द्रालोक’ के व्याख्या-रूप ‘कुवलयानन्द’ में व्याजोक्ति और युक्ति-अलंकार में भी उक्ति के अतिरिक्त क्रिया तथा आकार द्वारा गोपन की विधि सम्मिलित कर ली है।

काल-विभाग (Tense) में भी अलंकार वेतरीके घुस पड़ा है। काल व्याकरण का एक अंग है; अलंकार के साथ उसका सम्बन्ध व्याकरण के क्षेत्र नहीं रहना चाहिए। भूत, वर्तमान और भविष्य—इन में तीनों कालों को व्याकरण के क्षेत्र में अपने अलग-अलग अलंकार व्यापार हैं। भाविक अलंकार की योजना कर आचार्यों ने व्याकरण को भी अछूता नहीं छोड़ा। जहाँ भूत और भविष्य के वर्णन वर्तमान काल की तरह किये जायँ, वहाँ भाविक अलंकार की स्थिति बताई जाती है। उदाहरण के लिए—

हमको विदित थे तत्त्व सारे नाश और विकास के ।

कोई रहस्य छिपे न थे पृथ्वी तथा आकाश के ॥

ये जो हजारों वर्ष पहले जिस तरह हमने कहे ।

विज्ञानवेत्ता अब वही सिद्धान्त निश्चित कर रहे ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

उपर्युक्त हरिगीतिका छन्द में यह बताया गया है कि भारतवर्ष के महर्षियों ने हजारों वर्ष पहले पदार्थ-विद्या के जिन तत्त्वों का रहस्योद्घाटन किया था, उन्हीं पर अब आजकल के वैज्ञानिक अपने सिद्धान्तों का निर्माण कर रहे हैं। इसमें अलंकार की पुष्टि के लिए थोड़ा भी चमत्कार नहीं है। 'राम सीता के साथ चित्रकूट जा रहे हैं'—इस वाक्य में अलंकारत्व मानने से अलंकार की महत्ता नहीं बढ़ती, उसकी मिट्टी पलीद होती है। ऐतिहासिक वर्तमान (historic present) को अलंकार मानने के पहले उसपर गम्भीर विचार करना उचित है। साग के मोल अलंकार का प्रचार करना अच्छा नहीं।

भाव और भाषा का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। अलंकार की पहुँच दोनों क्षेत्रों में है। प्रायः भाव के चमत्कार के लिए अर्थालंकार और भाषा के सौन्दर्य के निमित्त शब्दालंकार के प्रयोग किये जाते हैं। भाव में चमत्कार लाने के लिए अर्थालंकार की जो योजना की जाती है, वह

शब्दाभाव अधिकतर भाषा के वैभव की सहायता से ही। जिस भाषा पर में जितनी लाक्षणिक चपलता होती है, उसमें उतनी क्षमता स्थित अलंकार भी रहती है। अलंकारों के मूल में श्लेष की लगभग अधिकांश स्थिति पाई जाती है। आचार्य दण्डी ने—
'श्लेषः सर्वासु पुष्पाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्'—श्लेष प्रायः सभी वक्रोक्तियों—वक्रोक्ति अलंकार नहीं, उक्तिवैचित्र्य-रूप अलंकारों—की शोभा बढ़ाता है, कहकर श्लेष की महत्ता को प्रकट किया है। सब अलंकार भाषा के वैभव पर ही टिके हुए नहीं हैं। कुछ तो भाषा के दारिद्र्य से अपने अस्तित्व की रक्षा में समर्थ होते हैं। भाषा में यदि प्रत्येक भाव या अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अलग-अलग शब्द रहते, तो उनकी लाक्षणिकता में तो कमी होती ही, शब्दाभाव पर निर्भर रहनेवाले श्लेषादि अलंकार अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकते। भाषा का शब्द-बाहुल्य जहाँ भाव को तीव्र रूप से प्रकट करने में सहायक होता है, वहाँ कभी-कभी उससे चमत्कार-प्रकाशन में कुछ बाधा भी पहुँचती है। यदि एक शब्द से एकाधिक अर्थों की व्यक्ति न हो, तो अकेले श्लेष की बात क्या, उसपर गौण या मुख्य रूप से स्थिर रहनेवाले अर्थ-वक्रोक्ति विवृतोक्ति, गुडोक्ति, समासोक्ति आदि अलंकारों को कहाँ शरण मिलेगी ?

अलंकारों की संख्या न निश्चित है, और न निश्चित की जा सकती है। पर इस सम्बन्ध में यह बात बराबर याद रखनी चाहिए कि अलंकारों को

अपने क्षेत्र में ही रखने से काव्य का कल्याण हो सकता है। साहित्यशास्त्र के कितने आचार्यों ने नये-नये ढंग से बहुत-से अलंकारों की उद्भावनाएँ कीं, पर वे सब काव्य-जगत् में समान रूप से आदृत नहीं हुईं। कल्पना के आश्रय पर निर्मित अलंकारों का काव्य में भावोत्तेजन के रूप में यथास्थान व्यवहार

होना चाहिए। यह नई उद्भावना का युग है। नये-नये अलंकारों विविक्त अलंकार यदि निर्मित किये जायँ, तो उनसे काव्य का गौरव ही बढ़ेगा।^१ पुराने ढंग के अलंकार इतने किराये के-से मालूम होते हैं कि उनसे किसी अच्छे भाव को तीव्र करने में उतनी सहायता नहीं मिलती। पाठक या श्रोता

को प्रायः यही जान पड़ता है कि इसमें वास्तविक चमत्कार या सौन्दर्य नहीं, अलंकार की सिद्धि के लिए ही ऐसे कथन किये गये हैं। काव्य में सर्वत्र अलंकार का प्रयोग होना ही चाहिए, यह कोई सिद्धान्त नहीं। जहाँ साधारण रूप से यह मालूम पड़े कि भावोत्तेजन की दृष्टि से यहाँ अलंकारों की सहायता लेनी है, वहाँ अलंकार व्यवहृत किये जा सकते हैं। जब काव्यकार अपने भावों को इच्छानुकूल प्रकट नहीं कर सकता, तब वह अलंकार का आश्रय लेता है। बिना जरूरत जो चीज ली जाती है, वह बोझ ही समझी जाती है, उससे किसी प्रकार का सौन्दर्य-वर्द्धन नहीं हो सकता।

पिछले अध्याय में हम प्राकृत सत्य और काव्यगत सत्य का अन्तर दिखा चुके हैं। यहाँ काव्यगत सत्य की दृष्टि से अलंकार के प्रयोजन पर विचार करना आवश्यक है। अलंकार अभाव-प्रसूत है। नायिका के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए या उसके प्रकृत रूप को ही अधिकतर सुन्दर बनाने के निमित्त आभूषण की जरूरत होती है। आभूषण की स्थिति से ही यदि नायिका के

१. श्रीयुत सेठ अर्जुनदास केडिया ने अपनी अलंकार-सम्बन्धी पुस्तक— 'भारती-भूषण' को जब आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के पास सम्मत्यर्थ भेजा था, तब उन्होंने इस बात की ओर संकेत किया था कि अब केवल पुराने अलंकारों की लीक पीटने से काम नहीं चलेगा। भारती के वे आभूषण बहुत पुराने हो गये हैं, नये ढंग के आभूषण चाहिए। प्राचीन काल के आभूषण आजकल की स्त्रियों को पसन्द नहीं, बिहार की स्त्रियों को मारवाड़ के जेवर अच्छे नहीं लगते। काव्य में भी इस रुचि को आश्रय मिलना चाहिए।

सौन्दर्य का संवर्द्धन होता हो, तो यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि नायिका में सौन्दर्य का अभाव है, कम-से-कम उतना अभाव है, जितना आभूषण की अवस्थिति से बढ़ जाता है। काव्य-रचना में भी जब

अलंकार का प्रयोजन काव्यकार मनोनुकूल अपने भाव को पुष्ट नहीं कर सकता, तब अलंकार की सहायता लेता है। अलंकार का यथार्थ प्रयोजन है—प्रभाव की क्षमता प्राप्त करना। किसी के

लिए हमारे हृदय में जो भय, स्नेह, श्रद्धा, घृणा आदि के भाव हैं वे सबके हृदय में समान रूप से या न्यूनाधिक रूप से आ जायें, इसके लिए काव्य में प्रेक्षणीयता की आवश्यकता होती है। कोई आदमी सड़क पर धीरे-धीरे जा रहा है। उसके समीप ही आगे से प्रायः तीन हाथ का एक साँप सड़क पर से निकल गया। उस समय साँप को देखकर उसके हृदय में जो भय हुआ उसकी अनुभूति दूसरों को इतिवृत्तात्मक ढंग से कहने पर उतनी नहीं हो सकती। काव्य में अपने भाव को दूसरे के हृदय की सम्पत्ति

प्रेक्षणीयता में बनाना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जा सके, तो अलंकारत्व का प्रयत्न निष्फल ही है। काव्य में जब साँप से उत्पन्न उस भाव का वर्णन किया जायगा, तब केवल भय

पर ही ध्यान रखने से काम नहीं चलेगा, भयोत्पादक रूप साँप के स्वरूप का बृहत्तर तथा भयावना बिम्ब-ग्रहण करना पड़ेगा। वह कुछ-कुछ इस प्रकार बताया जा सकता है—“भई, मैं सड़क पर धीरे-धीरे जा रहा था। सामने ही अचानक एक प्रायः पाँच हाथ लम्बा काला साँप फुँफकार उठा। उसपर पाँव रखते-रखते मैं बच गया ! उसकी सूरत देखते ही कलेजा धक् से हो उठा ! फिर वह एक ओर जल्दी से सरक गया”— इस प्रकार एक बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहने से, यह सम्भव है कि जितना भय उस व्यक्ति को तीन हाथ के साँप को देखने से हुआ था, प्रायः उतना ही भय काव्य के पाठक या श्रोता को पाँच हाथ के लम्बे फुँफकार भरनेवाले काले साँप के वर्णन से हो। यही आलंकारिक प्रेक्षणीयता है, पर इसमें बहुत ही काव्य-संयम और सतर्कता चाहिए। पाँच को पच्चीस बना देने से उस मूल भाव का संक्रमण अन्यत्र नहीं हो सकेगा। भावों के प्रेषक या उत्तेजक बनने में ही अलंकार की सार्थकता है। अनुभूतियों को प्रेषित करने में कुछ तो वे विवृत्त हो जाती हैं और कुछ छूट जाती हैं। काव्य में जितनी अनुभूतियों को स्थान मिल जाता है, वे ही मुख्य हैं।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत अलंकार के दो मुख्य अंग हैं। प्रस्तुत के प्रति भाव को उद्दीप्त करने के लिए ही अप्रस्तुत की योजना की जाती है। यही अप्रस्तुतान्वय यथार्थ अलंकार है। काव्य में वैसी ही अप्रस्तुत-योजना भावोत्तेजक होती है, जो हमसे परिचित है और जो हमारे किसी-न-किसी

अन्योक्ति

भाव की भूमि है। अन्योक्ति के लिए यह बहुत आवश्यक है कि उसका प्रस्तुत जितना ही मर्मस्पर्शी हो, उतना ही उसका अप्रस्तुत प्रकृति के रमणीय उपादानों से बना रहे। अन्योक्ति में प्रस्तुत व्यंग्य रहता है और अप्रस्तुत को सामने रखा जाता है। यदि अन्योक्ति के व्यंग्य-प्रस्तुत में जीवन को स्पर्श करने की क्षमता नहीं है, तो उसका अप्रस्तुत चाहे कितना ही परिचित तथा रमणीय उपादानों से बना हो, वह अन्योक्ति नहीं कहला सकता। कमल, चकोर, भ्रमर, चन्द्र आदि को उपलक्ष्य मानकर अन्योक्ति द्वारा न मालूम जीवन की कितनी मार्मिक घटनाओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। सीधे-सीधे जो बात कही जाती है, उससे कहीं अधिक वह बात प्रभावपूर्ण होती है, जो किसी उपलक्ष्य के द्वारा कही जाती है। प्रकारान्तर सं देखा जाय, तो अकेले अन्योक्ति अलंकार में कम-से-कम छह—अप्रस्तुत-प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजोक्ति तथा पर्यायोक्ति—अलंकारों का समावेश हो सकता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा के सारूप्य निबन्धना-भेद में श्लेष-हेतुक, श्लिष्ट विशेषण तथा सादृश्य-मात्र—ये तीन अवान्तर भेद होते हैं। कुछ आलंकारिक सादृश्य-मात्र अवान्तर भेद को अन्योक्ति अलंकार मानते हैं।

अलंकार वस्तुतः वाच्यार्थ में ही माना जा सकता है, व्यंग्यार्थ में नहीं। विना व्यंग्य के चमत्कार में अलंकारत्व रहता है। व्यंग्य की प्रधानता होते ही वह अलंकारशास्त्र का विषय न होकर ध्वनि के अन्तर्गत आ जाता है।

वाच्यार्थ से गौण व्यंग्य काव्य की शोभा बढ़ाता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा में प्रस्तुत-रूप व्यंग्यार्थ का ज्ञान होने पर भी साधर्म्य-विवक्षा से बुद्धि

वाच्यार्थ

में

अलंकार

पुनः शीघ्र ही अप्रस्तुत-रूप वाच्यार्थ का आभास पा लेती है। यहाँ वाच्यार्थ में जो चमत्कार है, वह व्यंग्यार्थ का संवर्द्धक है। इसी कारण 'ध्वन्यालोककार' के मत से व्यंग्य और वाच्य समान होने के कारण यह गुणीभूत व्यंग्य है और अलंकार की स्थिति मानी गई है। 'ध्वन्यालोक' में अलंकार और अलंकार्य का अन्तर मानकर ध्वनि के अवान्तर भेदों में कहीं व्यंग्य अलंकार्य रखा गया है

और कहीं अलंकार माना गया है, किन्तु वाच्यार्थ में ही अलंकार मानना युक्तियुक्त है। अन्योक्ति में प्रस्तुत व्यंग्य रहता है; अतः यदि सम्भव हो, तो अप्रस्तुत के वाच्यार्थ को ही प्रस्तुत मानकर उसमें जो कुछ चमत्कार लक्षित हो, उसे अलंकार कहा जा सकता है। साधर्म्य-विवक्षा के बिना अन्योक्ति का प्रस्तुत समझ में नहीं आता। जिस अर्थ को समझने के लिए वाच्यार्थ से दूर जाना पड़े, उसे अलंकार्य चाहे माना भी जाय, अलंकार नहीं माना जा सकता।

अप्रस्तुत-योजना सादृश्य और साधर्म्य पर निर्भर करती है। अभिव्यञ्जना-वाद के प्रचलन के कारण आधुनिक काव्य में सादृश्य को साधर्म्य की तरह महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। क्रोचे ने उक्ति में ही अलंकारत्व माना है। अलंकार और अलंकार्य की पृथक् सत्ता को स्वीकृत नहीं किया। अतएव, क्रोचे के निकट सादृश्य और साधर्म्य का विवेचन, अलंकारशास्त्र की दृष्टि से, कुछ महत्त्व नहीं रखता। काव्य की प्रवृत्तियों को कोई एक नियम के अन्तर्गत

<p>सादृश्य और साधर्म्य</p>	<p>बाँधकर नहीं रख सकता। सादृश्य और साधर्म्य को यदि छोड़ दिया जाय, तो अलंकारशास्त्र में प्रायः कुछ वचता ही नहीं। अलंकार में विधायक कल्पना के लिए तर्क का आश्रय नहीं रखना चाहिए। भाव से कल्पना को जहाँ तक प्रेरणा मिल सके, वहीं तक यथार्थ में काव्य का कल्याण हो सकता है। तर्कपूर्ण विचार से काव्य में सादृश्य-विधान नहीं होता। किसी एक अंश में भी किसी प्रकार के सादृश्य का आरोप कर काव्य की भावना सन्तुष्ट हो जाती है, किन्तु तर्क और विचार को अधूरा ही जेंचेगा।^१ काव्य में साधर्म्य के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ इसी प्रकार की बात है। किसी कार्य,</p>
------------------------------------	------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------

१. "While the voluntary thought only deals with likeness of practical value in reasoning, the poetic thought is free recognized likeness of any kind whatever. For it likeness need not be extended; a likeness in any single point to afford a link for the mind is sufficient. Voluntary thought must see resembleness and point out in what it consists—i.e., explain it, but poetic thought is satisfied with a mere recognition of the resemblance; and may not be able at all to define it. This cannot be seen but felt. —Prescott : The Poetic Mind, p. 217

गुण आदि की आंशिक समानता भी साधर्म्य का पूरा आरोप कर देती है। काव्य में यह आवश्यक नहीं है कि सादृश्य के लिए आकार-प्रकार या वजन के माप-तौल की जरूरत पड़े, अथवा साधर्म्य के लिए वस्तु के प्रत्येक कार्य या गुण की पूरी समानता रहे। सादृश्य—विम्ब-प्रतिविम्ब रूप और साधर्म्य—वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म—दोनों ही काव्य में भाव के प्रसार के लिए सूत्र का काम करते हैं। यदि भाव का प्रसार सादृश्य या साधर्म्य के संकेत-मात्र से हो जाय, तो फिर उनके पूरे आरोप की आवश्यकता नहीं।

प्रभाव आजकल काव्य में सादृश्य और साधर्म्य के अतिरिक्त तत्पन्न प्रभाव का ही अधिक विचार किया जाता है। यही उचित भी है। सादृश्य और साधर्म्य रहने पर भी यदि अप्रस्तुत-योजना में प्रभाव की क्षमता नहीं, तो वह किसी काम की नहीं। अप्रस्तुत-योजना के समय काव्यकार को रस की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। रस की प्रतीति के बाधक-स्वरूप उपमान या अधिक अभीष्ट प्रभाव पर व्याघात पहुँचानेवाली अप्रस्तुत-योजना काव्य की दृष्टि से दूषित ही है।

अभिव्यंजना के वैचित्र्य का कुछ व्यंग्य, रूपक और लक्षणा से लाया जाता है। कहीं-कहीं रूपक के अध्यवसान का आधार साधर्म्य का इतना सूक्ष्म होता है कि प्रस्तुत-अप्रस्तुत का कोई भेद आंशिक आधार लक्षित नहीं होता। प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच कहीं तक सादृश्य या साधर्म्य है, इससे कवि अपने को बहुत-कुछ रक्षित समझता है। अल्प या धुँधले आधार पर ही रूपक का अध्यवसान कर दिया जाता है। जैसे—

नवोढ़ा - बाल - लहर

अचानक उपकूलों के

प्रसूनों के ढिग रुककर

सरकती है सत्वर। —सुमित्रानन्दन पन्त

इसमें लहर के साथ नवोढ़ा नायिका का कोई सादृश्य नहीं, धीरे-धीरे चलने का थोड़ा-सा साधर्म्य है। नवोढ़ा मुश्किल से पति के निकट जाती है और थोड़ी देर ठहरकर वहाँ से जल्द भाग खड़ी होती है। साधर्म्य के इसी एक अंश को लेकर कवि ने लहर और नवोढ़ा का अध्यवसान किया है।

आधुनिक कविताओं में अप्रस्तुत-योजना के सादृश्य पर बहुत कम ध्यान जा रहा है। साधर्म्य के लिए भी यह आवश्यक नहीं समझा जाता कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच क्रिया-गुण आदि की पूरी समानता होनी ही चाहिए। कभी-कभी सादृश्य और साधर्म्य—दोनों का तिरस्कार सादृश्य कर केवल हृदय पर पड़े हुए तज्जन्य प्रभाव का ही साम्य का दिखलाया जाता है। इस ढंग की कविताओं में प्रस्तुत और अभाव अप्रस्तुत का भेद प्रायः मिटा-सा मालूम पड़ता है। यह पता अच्छी तरह नहीं लगता कि कवि जिस वस्तु का वर्णन कर रहा है, वह प्रस्तुत है या अप्रस्तुत। इसका कारण अभिव्यंजनावाद का प्रभाव ही बतलाया जा सकता है। प्रस्तुत के मार्मिक रूप-विधान से हटकर धीरे-धीरे कवियों का ध्यान अप्रस्तुत की योजना की ओर ही आकर्षित होता जा रहा है। काव्य के यदि जीवन-पक्ष को अलग कर दिया जाय, तो उसमें प्रस्तुत कुछ रहेगा ही नहीं। काव्य की मार्मिकता के लिए जीवन-पक्ष का समन्वय बहुत ही आवश्यक है। जीवन की बातों को अप्रस्तुत में मिलाने से फिर वही समस्या खड़ी हो जाती है। जहाँ जीवन किसी रूप में वर्तमान रहेगा, वहाँ प्रस्तुत भी मानना ही पड़ेगा।

‘सोती थी,

जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?

नायक ने चमे कपोल,

डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल ।

इस पर भी जागी नहीं,

चूक-क्षमा-मांगी नहीं

निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूंदे रही—

किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिए, कौन कहे ?

निर्दय उस नायक ने

निपट निठुराई की

कि शोंकों झड़ियों से

सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,

मसल दिये गोरे कपोल गोल;

चौंक पड़ी युवती—

चकित चितवन निज चारों ओर फेर ।’

—निराला

इसमें 'जुही की कली' को लक्ष्य कर कवि ने किसी नायिका का वर्णन किया है। अब सादृश्य और साधर्म्य का अलग-अलग विचार करना चाहिए। जुही की कली और नायिका में किसी प्रकार का सादृश्य नहीं। बंकिम विशाल नेत्र, सुन्दर सुकुमार देह, गोरे कपोल गोल, चकित चितवन आदि नायिका के अंग-प्रत्यंग केवल किसी मानवाकार वस्तु में ही सम्भव हैं। जुही की कली और नायिका में विस्व-प्रतिविस्व रूप नहीं, फिर भी रूपक का अध्यवसान कर दिया गया है। साधर्म्य का आधार माना जा सकता है। जुही की कली के पवन में नायकत्व का गुण मौजूद है। हिला-डुलाकर कली को खिलाना, झोंकों से लता के साथ कली को अपने वृन्त पर हिलाना और अर्द्धमुकुलित कली का पवन का झोंका पाकर प्रफुल्ल हो जाना, आदि नायक-नायिका के धर्मों का साम्य रखते हैं। पर, इस समय कवि यह सब-कुछ भूल जाता है कि प्रस्तुत के जिन रूपों या गुणों का आरोप अप्रस्तुत में किया जा रहा है, वे वस्तुतः उसमें होते हैं या नहीं। उसे यह सोचने का अवकाश भी नहीं रहता। अपने मन की काल्पनिक नायिका का वर्णन एक उपलक्ष्य मानकर वह कर जाता है। पाठक या श्रोता भी रसानुभूति के लिए एक आलम्बन पाकर अपने भाव का आरोप करता है। 'जुही की कली' एक सुन्दर मुक्तक रचना है।

प्रस्तुत-पक्ष को छोड़कर केवल अप्रस्तुत-योजना की ओर कवियों की प्रवृत्ति बहुत बढ़ रही है। जीवन की गार्मिक अनुभूति इससे बड़ी दूर पड़ जाती है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी 'छाया' में अप्रस्तुत-योजना की जो शृंखला रखी है वह जीवन के भावों से दूर रह, केवल प्रस्तुत की कल्पना का चमत्कार-प्रदर्शन करती है। इसके अनुकरण अवहेलना पर कुछ अन्य कवियों ने भी इसी प्रकार की अप्रस्तुत-रूप-योजना करते हुए रचनाएँ कीं, पर पन्तजी की भाँति उनमें विराट् कल्पना का चमत्कार न आ सका। जीवन की मार्मिक अनुभूति तो ऐसी रचनाओं में लक्षित हो ही नहीं सकती। 'नक्षत्र' शीर्षक कविता के कुछ अंश उदाहरण के लिए लीजिए—

ऐ निशि-जाग्रत् ! वासर-निद्रित !

ऐ अनन्य छवि के समुदय !

स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय !

अश्रु-हास ! अनिमेष हृदय !

ऐ अनादि के वृत्त अनन्वय !
ऐ आतुर उर के सम्मान !
अब मेरी उत्सुक आँखों से
उमड़ो, दिवस हुआ अवसान !

यहाँ तक तो मालूम पड़ता है कि प्रस्तुत का रूप-विधान ही कवि का लक्ष्य है, पर आगे चलते-चलते कवि ने प्रस्तुत का ऐसा धुँधला आधार लिया है कि उसमें केवल अप्रस्तुत-योजना ही रह गई है। प्रस्तुत का आधार क्षीण होते-होते विलीन हो गया है। आगे के चुने हुए अंशों को देखिए—

ऐ अनन्त की आगम कल्पना !
ऐ अशब्द-भारति अविषय !
आदि नग्न सौन्दर्य निरामय !
मग्ध दृष्टि की चरम विजय !

× × ×

ऐ अज्ञात देश के नाविक !
ऐ अनन्त के हृत्कम्पन !
नव प्रभात के अस्फुट अंकुर !
निद्रा के रहस्य कानन !

× × ×

सूर-सिन्धु ! तुलसी के मानस !
मीरा के उल्लास अजान !
मेरे अधरों पर भी अंकित !
कर दो यह स्वर्गिक मुस्कान !

× × ×

ऐ नश्वरता के लघु बुद्बुद् !
काल-चक्र के विद्युत् कन !
ऐ स्वप्नों के नीरव चम्बन !
तुहिन-दिवस ! आकाश-सुमन !

× × ×

—सुमित्रानन्दन पन्त

इस कविता के शीर्षक के साथ-साथ यदि निशि-जाग्रत्, वासर-निद्रित, आकाश-सुमन आदि कुछ पदों को हटा लिया जाय, तो यह एक पहली-सी हो

जायगी। इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकेगा। जिस कविता में जीवन की अनुभूति नहीं रहेगी, केवल कल्पना का बवण्डर रहेगा, उसके अर्थ की स्पष्टता उसका नित्य स्वरूप है। अप्रस्तुत-योजना बुरी बात नहीं, किन्तु प्रस्तुत की बिल्कुल उपेक्षा कर देने से वर्णन का आधार नहीं रह जाता। सारी कविता हवाई जहाज हो जाती है। प्रस्तुत के आधार पर जो अप्रस्तुत-योजना की जाती है वह निश्चय ही मार्मिक होती है।

प्रभाव और रमणीयता की दृष्टि से जो अप्रस्तुत-योजना की जाती है वह बहुत सुन्दर होती है। आजकल के समालोचकों के मतानुसार व्यंग्य-रूपक बढ़ा उत्कृष्ट माना जाता है। पन्तजी की रचनाओं व्यंग्य-रूपक में इसके अनेक अच्छे उदाहरण हैं। प्रस्तुत के लिए जिन उपमानों के प्रयोग काव्य में रूढ़ हो गये हैं, उनमें विशेष नवीनता न रहने पर भी, यदि वे मार्मिक ढंग से प्रयुक्त किये जायें, तो सौन्दर्य का अच्छा विधान हो सकता है।

‘प्रथम, भय से मीन के लघ बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में, तरल
उमियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी।
कमल पर जो चारु दो खंजन, प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।’

—सुमित्रानन्दन पन्त

इसमें आँखों का बहुत ही मार्मिक वर्णन है। आँख के उपमान मछली, खंजन आदि प्रसिद्ध हैं। कमल, मुख के लिए तथा भ्रमर, रस-लोलुप होने के कारण, नायक के उपमान के रूप में रखे गये हैं। नायिका की आँखों में क्रम-क्रम से चपलता बढ़ती है। पहले जो नायिका नायक को देखकर भीत होती थी, शिक्षकती थी वही अब समय पाकर नायक को अपने हाव-भाव से विकल करने लगी है। उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत का बहुत रमणीय तथा मार्मिक अध्यवसान किया गया है।

अप्रस्तुत रूप-योजना-द्वारा प्रस्तुत की बड़ी मार्मिक व्यंजना की जा सकती है। केवल उपमानों को ला पटकने से ही वर्णन अप्रस्तुत से प्रस्तुत सजीव नहीं हो जाता। अनुभूति की थोड़ी-सी भी मार्मिकता को व्यंजना वर्णन में जीवन ला देती है। हास्य की यह कितनी सुन्दर अप्रस्तुत योजना है—

‘विकसित सरसिज-वन-वैभव
मधु ऊपा के ग्रंचल में
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल में।’

—प्रसाद

इसमें अप्रस्तुत के उपलक्ष्य द्वारा प्रस्तुत की हँसी का वर्णन किया गया है। ऊपा-काल में पूर्व दिशा की लालिमा से कमल-वन की जो शोभा होती है, वह नायिका की हँसी के सम्मुख तुच्छ है। इसमें व्यतिरेक का भाव है और इसी कारण प्रस्तुत का अध्यवसान अधिक व्यंग्य नहीं रह सका है। कुछ और देखिए—

‘सखि, नील नभस्सर में उतरा
यह हंस ग्रहा ! तरता-तरता,
ग्रव तारक-मौक्तिक शेष नहीं
निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको घरता-घरता,
गढ़ जायँ न कंटक भूतल के
कर डाल रहा डरता-डरता।’

—मैथिलीशरण गुप्त

यह प्रातःकाल की अप्रस्तुत-योजना है। सूर्योदय के कारण तारागण के विलीन होने और धीरे-धीरे रश्मियों के पृथ्वीतल पर पहुँचने का अच्छा वर्णन है। उत्कृष्ट अप्रस्तुत-योजना में प्रस्तुत गूढ़ व्यंग्य नहीं रखा जाता। उपर्युक्त योजना में प्रस्तुत का स्वरूप बड़ी सुन्दरता से झाँक रहा है। अप्रस्तुत-योजना में कल्पना की उड़ान उतनी ऊँची नहीं होनी चाहिए, जिसमें नीचे पड़े हुए प्रस्तुत का रूप, पहाड़ होने पर भी, तिल की तरह दिखाई दे।

काव्य में सौन्दर्य की सत्ता के लिए अप्रस्तुत-योजना ठीक प्रस्तुत के अनुकरण पर होना वांछनीय है।

अभिव्यंजना का एक प्रकार का प्रभाव, जो अब आधुनिक कविताओं में स्पष्ट लक्षित हो रहा है, वह है अप्रस्तुत-योजना में व्यंग्य-व्यंजक भाव का सम्बन्ध। इसमें कवि की दृष्टि किसी प्रकार के रूप-साम्य पर नहीं पड़ती, केवल व्यंजना ही उसका ध्येय रहता है ! 'बीचि-बिलास' की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

‘गूढ़ साँस-सी अति गतिहीन
अपने ही कंपन में लीन;
सजल कल्पना-सी साकार
पुनः-पुनः प्रिय पुनः नवीन;

तुम शैशव-स्मिति-सी सुकुमार,
मर्म-रहित, पर मधुर अपार,
खिल पड़ती हो बिना विचार।’

—सुमित्रानन्दन पन्त

अलंकार के भीतर ध्वनि का प्रवेश भी बहुत दूर तक हो गया है। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि के दो प्रधान—शब्द-शक्ति-उद्भव तथा अर्थ-शक्ति-उद्भव-ध्वनि—भेदों में व्यंग्य रूप से कितने प्रकार के अलंकारों का समावेश कर दिया गया है। शब्द-शक्ति-उद्भव-ध्वनि में वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि होती है। अर्थ-शक्ति-उद्भव-ध्वनि में व्यंजक और व्यंग्य—दोनों अर्थ होते हैं। ध्वनि में अलंकार व्यंजक अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—स्वतःसम्भवी, कवि-प्रौढोक्ति-मात्र सिद्ध तथा कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढोक्ति-मात्र सिद्ध। इनके अनेक भेदों में कहीं वस्तु से वस्तु-व्यंग्य, कहीं वस्तु से अलंकार-व्यंग्य, कहीं अलंकार से अलंकार-व्यंग्य होता है। प्रधानतः यह विषय ध्वनि-शास्त्र का है, अलंकार के साथ इसका विवेचन करने से अलंकार की दुरुहता बढ़ेगी। गूढ़ कल्पना के आश्रय से अलंकार की शोभा नष्ट ही होगी, बढ़ेगी कदापि नहीं। अतएव, अलंकार के प्रसंग में इसका विस्तृत विवेचन हम उचित नहीं समझते। ध्वनिवादियों के आप्रह का ही यह परिणाम हुआ कि ध्वनि का प्रवेश धीरे-धीरे साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में हो गया।

प्रस्तुत के वर्णन में जो अप्रस्तुत-योजना की जाती है, वह कल्पना के सहारे ही, पर सत्काव्य के लिए केवल कल्पना ही यथेष्ट नहीं है। कल्पना के साथ हृदय की अनुभूति का सामंजस्य रहना बहुत आवश्यक है।

कल्पना भाव या अनुभूति से जीवन-व्यापार का जैसा सम्बन्ध पाया और अनुभूति जाता है, वैसा कल्पना से नहीं। तुलसी और सूर के काव्यों में जो इतना रस, इतनी विदग्धता पाई जाती है, वह केवल कल्पना के सहारे ही व्यक्त नहीं हुई है। अनुभूति जितनी गम्भीर तथा मार्मिक होगी, वह उतनी ही प्रभावपूर्ण भी रहेगी। हृदय की अनुभूति, जब प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापारों के साथ पुरा-भूरा मेल खा जाती है, तब प्रस्तुत-अप्रस्तुत का अन्तर मिटा-सा मालूम हो जाता है। अन्तःकरण की भाव-मग्नता और प्रकृति के व्यापारों में विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव हो जाता है। हृदय की ऐसी स्थिति अलंकारों के स्वाभाविक प्रस्फुटन के लिए भावों के क्षेत्र को उन्मुक्त कर देती है। यह एक ऐसी अवस्था है, जब हृदय में छिछले भाव उत्पन्न ही नहीं होते। हृदय की अनुभूति गम्भीर होती है, अतः गम्भीर भावों से लदे हुए अलंकारों में जो गम्भीरता होगी, वह हवाई जहाज की तरह उड़नेवाली आधारहीन कल्पना के बल से निर्मित अलंकारों में सम्भव नहीं। राम की सीताहरण-जनित कातरता के वर्णन में अलंकार कितना जमकर बैठ गया है ! 'खंजन, सुक, कपोत, मृगमीना; मधूप-निकर, कोकिला प्रवीना। कुंदकली, दाड़िम, दामिनी; सरद कमल, ससि, अहि भामिनी। बरुन-पास मनोज धन हंसा; गज-केहरि निज सुगत प्रसंसा। श्रीफल, कमल, कदलि हरषाहीं; नेकु न संक सकुच मन माहीं।'—तुलसी

इसमें रूपकातिशयोक्ति अलंकार बहुत स्वाभाविक ढंग से आ गया है। वन के भीतर जो अप्रस्तुत हैं वे प्रस्तुत के भाव को तीव्र करते हैं; पर इसमें विचार करने लायक कुछ उपमान हैं, जो पुरानी लीक पर बैठायें गये हैं। अप्रस्तुत की योजना दो दृष्टियों से की जाती है—पहली तो अगोचर बातों को गोचर रूप देने और दूसरी प्रस्तुत के भाव को तीव्र करने की दृष्टि से। उपर्युक्त पंक्तियों में वन के भीतर अप्रस्तुत-प्रस्तुत भी हैं, इसी कारण वर्णन में सजीवता आ गई है। अपने हृदय की व्याकुल भावना को प्रकृति पर आरोपित करने का वर्णन आगे के पद में कैसा सुन्दर है :

‘मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?
 विरह वियोग स्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
 तुम हौ निलज, लाज नहि तुमको, फिर सिर पुहुप धरे ।
 ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक-धिक सबन करे ।
 कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठि परे ।’

—सूर

इसमें भावोन्माद की दशा में गोपियों की अन्तर्दशा का चित्रण ऋतु-सुलभ व्यापारों से किया गया है। हृदय के भाव को प्रस्तुत मानकर, अप्रस्तुत-रूप प्रकृति के दृश्य पर, बिम्ब-प्रतिबिम्ब का बड़ा मार्मिक आरोप हुआ है। भर्त्सना का प्रबल भाव है। ऐसी कल्पना में अनुभूति का कुछ योग है।

काव्य में अप्रस्तुत-योजना ही सब कुछ नहीं है। केवल प्रस्तुत-विधान से भी काव्य में बड़ी रमणीयता आ सकती है। कवि की प्रतिभा की सच्ची पहचान प्रस्तुत-विधान में ही होनी चाहिए। कल्पना की प्रस्तुत-विधान सहायता जितनी अप्रस्तुत-योजना में होती है, उतनी ही, उससे कम नहीं, प्रस्तुत-विधान में भी होती है। कवि की भावुकता का परिचय इसी से मिलता है। सीधे-सादे शब्दों में एक बिल्ली का स्वाभाविक वर्णन देखिए :

‘तूल - सी मार्जार - बाला सामने
 निरत थी, निज बाल-क्रीड़ा में कभी
 उछलती थी, फिर दुबककर ताकती,
 घूमती थी साथ फिर-फिर पूँछ के ।’

—सुमित्रानन्दन पन्त

इसमें बिल्ली की स्वाभाविक चपलता का मनोरम बिम्ब-ग्रहण है। ‘तूल-सी’ को छोड़कर अप्रस्तुत का इसमें कहीं समावेश नहीं। केवल प्रस्तुत-विधान में इतनी रमणीयता लाना कवि की वास्तविक प्रतिभा का ही काम है। मेघदूत के प्रकृति-वर्णन का एक श्लोक लीजिए—

‘पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैःसू चिभिन्नै-
 नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
 त्वय्यासन्ते परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
 सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥’

—कालिदास

—अर्थात् केतकी के फूलने से बागों की सीमाएँ शुभ्र हो जायेंगी । गाँव के मन्दिरों में पक्षी बड़ी लगन के साथ अपने घोंसले बनाने में लगेंगे । तुम्हारे—वर्षा-ऋतु—आ जाने से पके हुए जामुनों की श्यामता से पूर्ण वन की शोभा होगी और दशार्ण में तब हंस कुछ ही दिन रहेंगे ।

इस वर्णन से वर्षा-काल में दशार्ण-प्रान्त की शोभा का बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित होता है । केतकी का फूलना, वर्षा के भय से पक्षियों का घरों के छज्जों में घोंसले बनाना, जामुनों का पक-पककर काला होना आदि प्रकृति के बड़े रमणीय और नियमित व्यापार हैं ! इससे बड़े संश्लिष्ट प्रस्तुत-विधान के लिए महाकवि वाल्मीकि का वर्षा-वर्णन देखिए :

‘प्रहृषिताः केतकिपुष्पगन्धमाघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु ।
 प्रपातशब्दाकुलिता गणेन्द्राः सार्द्धं मयूरैः समदा नदन्ति ॥
 धारानिपातैरभिहन्यमानाः कदम्बशाखासु विलम्बमाना ।
 क्षणार्जितं पुष्परसावगाढं शनैर्मदं पट्चरणास्त्यजन्ति ॥
 अङ्गारचूर्णोत्करसन्निकाशैः फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः ।
 जम्बूद्रुमाणां प्रविभान्ति शाखानिपीयमाना इव षट्पदौघैः ॥
 तडित्पताकाभिरलङ्कृतानामुदीर्णगम्भीरमहारवाणाम् ।
 विभान्ति रूपाणि बलाहकानां रणोत्सुकानामिव वानराणाम् ।
 मार्गानुगः शैलवनानुसारी सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य ।
 युद्धाभिकामः प्रतिनादशङ्की मत्तो गजेन्द्रः प्रतिसन्निवृत्तः ॥
 क्वचित्प्रगीता इव षट्पदौघैः क्वचित्प्रनृत्ता इव नीलकण्ठैः ।
 क्वचित्प्रमत्ता इव वारणेन्द्रैर्विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः ।
 कदम्बवज्रार्जुनकन्दलाद्या वनान्तभूमिर्मधुवारिपूर्णा ।
 मयूरमत्ताभिस्तप्रनृत्तरापान भूमिप्रतिमा विभाति ॥
 मुक्तासमाभं सलिलं पतद्वै सुनिर्मलं पत्रपुटेष लग्नम् ।
 हृष्टा विवर्णच्छदना विहङ्गाः सुरेन्द्रदत्तं तृषिता पिबन्ति ॥
 षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं प्लवङ्गमोदीरितकण्ठतालम् ।
 आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादैर्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥

—वाल्मीकि

—केतकी पुष्प की गन्ध सूँघकर हर्षित, झरने के शब्द सुनने से चंचल-चित्त मतवाले हाथी झरने के पास मयूरों के साथ गरज रहे हैं । धारा के

गिरने से आहत कदम्ब की शाखा में लटकनेवाले भ्रमर पुष्प-रस के पीने से उसी समय उत्पन्न मद का त्याग कर रहे हैं। कोयले के चूर्ण के समान काले रस-भरे अधिक फलों के कारण जामुन-वृक्ष की शाखा ऐसी मालूम होती है, मानों भीरे लिपटकर उन्हें पी रहे हों। विजली-रूपी पताका से अलंकृत दूर तक फैलनेवाले तथा गम्भीर निनाद करनेवाले मेघों का रूप युद्धोत्सुक वानरों के समान मालूम होता है। पार्वत्य वन में भ्रमण करनेवाला और युद्ध की इच्छा से मार्ग में जाता हुआ मतवाला हाथी मेघ के निनाद को सुनकर पीछे लौट पड़ा, उसे दूसरे हाथी के चिंगाड़ का भ्रम हो गया। वन की भूमि अनेक प्रकार की हो गई, भ्रमरों के समूहों से कहीं गाती हुई, मयूरी के द्वारा कहीं नाचती हुई और मतवाले हाथियों के द्वारा प्रमत्त के समान मालूम होती थी। कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और स्थल-कमल से युक्त मोठे जल से परिपूर्ण यह वनभूमि मयूर के मत्त शब्द और नृत्य से मद्यपान की भूमि के समान हो गई है। इन्द्र का दिया हुआ गिरनेवाला और पत्तों में लगा हुआ मोती के समान निर्मल जल प्रसन्न तथा बिखरे पंखों-वाले प्यासे पक्षी पी रहे हैं। मालूम होता है कि वन में संगीत हो रहा हो, भ्रमरों का शब्द सितार की झंकार के समान है, मेढकों का शब्द कण्ठताल है, मेघ का गर्जन मृदंग की ध्वनि है—इस प्रकार वन में मानों संगीत हो रहा है।

वाल्मीकि के उपर्युक्त वर्षा-वर्णन से प्रकृति के दृश्य का बहुत ही रमणीय विम्ब-ग्रहण होता है। वर्षा-ऋतु का वर्णन प्रस्तुत है और इसका निर्वाह अच्छी तरह हुआ है। प्रस्तुत के भाव को रमणीय तथा तीव्र करने के लिए कहीं-कहीं अप्रस्तुत योजना भी की गई है, पर वह प्रस्तुत के ऊपर प्रधानता नहीं पा सकी है। प्रस्तुत का वर्णन स्पष्ट है। हिन्दी के कवियों में संस्कृत के कवियों की तरह विम्ब-ग्रहण कराने का प्रयत्न बहुत कम पाया जाता है। वाल्मीकि का वर्षा-वर्णन वर्षा-वर्णन के लिए ही है।^१ कवि का ध्यान प्रस्तुत को छोड़, अन्यत्र नहीं भटका है। जीवन की मार्मिकता इस वर्णन में बराबर पाई जाती है। गोस्वामी तुलसीदास के वर्षा-वर्णन को देखिए :

१. यहाँ 'कला कला के लिए' का भ्रम नहीं होना चाहिए। वाल्मीकि के वर्षा-वर्णन में जीवन की सार-सत्ता बराबर लक्षित हो रही है। पर 'कला कला के लिए' माननेवाले कला में जीवन का प्रवेश आवश्यक नहीं समझते।

‘वरपहिं जलद भूमि नियराए, जथा नवहिं वुष विद्या पाए ।
 बुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के वचन सन्त सह जैसे ॥
 अर्क जवास पात बिनु भयऊ, जिमि सुराज्य खल उद्यम गयऊ ।
 छद्र नदी भरि चलि उत्तराई, जस थोरेहु धन खल इतराई ॥
 भूमि परत भा ढावर पानी, जिमि जीवहिं माया लपटानी ।
 सिमिट-सिमिट जल भरहिं तलावा, जिमि सदगुन सज्जन पंह आवा ।
 सरिता जल जलनिधि मंह जाई, होहिं अचल जिमि जिव हरि पाई ।
 —तुलसीदास

इस वर्षा-वर्णन में कवि का ध्यान प्रस्तुत पर कम और अप्रस्तुत पर बहुत प्रबल रूप से गया है। प्रबन्ध-काव्य में प्रासंगिक रूप से कवि ने वर्षा का वर्णन किया है, पर कवि ने उसे उपदेश देने का उपलक्ष्य बना दिया है। वर्षा का संश्लिष्ट बिम्ब-ग्रहण तो कुछ होता नहीं, पाठक या श्रोता के मन में बार-बार यही आता है कि विद्या पाकर लोग कैसे नम्र हो जाते हैं, दुष्टों के वचन को सन्त कैसे सहते हैं, सुराज्य में खलों का उद्यम कैसे नष्ट हो जाता है; इस प्रकार पर्वत पर वर्षा की बूँदें गिरने या अर्क-जवास के पत्रहीन होने का चित्र उपस्थित ही नहीं होता। बिम्ब-ग्रहण कराने के लिए यह आवश्यक है कि अप्रस्तुत-योजना में प्रस्तुत का सादृश्य और रमणीयता रहे। केवल साधर्म्य—वह भी सूक्ष्म साधर्म्य—के बल पर बिम्ब-ग्रहण नहीं कराया जा सकता। गोस्वामी तुलसीदास ने जो अप्रस्तुत-योजना रखी है, वह न तो बिम्ब-विधायक है और न प्राकरणिक ही। काव्य में ऐसी अप्रस्तुत-योजना से चित्त पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतः, ऐसी योजना का काव्य की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं, नीतिशास्त्र चाहे जो कहे।

अलंकारों में शुद्ध तथा प्रधान उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि हैं। आरोपित तथा सम्भावित वस्तु या तथ्य में ही अलंकार रहता है।

भावों के विषय में अलंकार की स्थापना नहीं हो सकती। अतिशयोक्ति कई अलंकारों का आश्रय-स्थल है। उत्प्रेक्षा या अतिशयोक्ति के प्रायः समस्त आधार झूठे या सम्भावित होते हैं। अतिशयोक्ति में अल्प-अलंकारों की वसान सिद्ध रहता है और उत्प्रेक्षा में साध्य। गम्भीर या प्रभावहीनता मुख्य भावों के वर्णन में झूठे आधार प्रतीति और रसानुभूति में बाधक हो जाते हैं। यदि आधार सत्य हो और उसका हेतु भी सम्भावित हो, तो प्रभाव की व्यापकता बढ़ जाती है। अलंकारों के

मोह में पड़कर कभी-कभी ऐसे वर्णन किये जाते हैं, जिन पर न तो विश्वास जमता है और न किसी प्रकार के सौन्दर्य का विधान होता है। जैसे—

आड़े दे आले वसन, जाड़े हूँ की राति ।
 साहसु कैकै नेह-वस, सखी सबै ढिग जाति ॥
 इत आवति चलि जाति उत, चली छ-सातक हाथ ।
 चढ़ी हिंडोरै सै रहै, लगी उसासनु साथ ॥
 छाले परिवे कै डरनु, सकै न हाथ छुवाइ ।
 झझकत हियै गुलाब कै, झंवा झवैयत पाइ ॥
 पत्रा हीं तिथि पाइयै, वा घर कै चहुं पास ।
 नित प्रति पून्यौई रहै, आनन-ओप-उजास ॥

—बिहारी

इस प्रकार के वर्णन में आलंकारिकों के मत से चाहे जितना सौन्दर्य काव्य में हो, पर सत्काव्य की दृष्टि से यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत है कि हजारों फेरेनहाइट की गर्मीवाली नायिका, या साँस के साथ ही झूले की तरह छह-सात हाथ आगे-पीछे जानेवाली नायिका किसी प्रकार के सौन्दर्य के भाव को मन में उद्दीप्त नहीं करती। वैसी नायिकाएँ हमारे मन में आश्चर्य या विस्मय ही उत्पन्न करती हैं। प्रकृति के आधार पर जिस सौन्दर्य का विधान होता है, वही काव्य में स्थान पाने के योग्य है। अतिशयोक्ति या बढ़-बढ़कर बातें करने की आदत हिन्दी के कवियों से ज्यादा उर्दू के शायरों को है, पर कभी-कभी हिन्दीवाले उनसे भी आगे बढ़ जाते हैं। नायिका की कटि को उर्दूवाले खुर्दवीन से देखते रहें, लेकिन प्रेम को कला का रूप देनेवाले बिहारी ने उसको 'सूक्ष्म कटि परब्रह्म की, अलख लखी नहीं जाइ' कहकर खुर्दवीन की ज़रूरत भी न रखी।

उपमा की दो विशेषताएँ, जो आजकल प्रायः देखने में आती हैं, ध्यान देने योग्य हैं। ये विशेषताएँ हिन्दी के काव्यों में पहले से भी हैं, किन्तु अभिव्यंजनावाद के कारण नवीन ढंग की कविताओं में जो उपमा की एक प्रकार का वैचित्र्य आया है, उससे विशेषता की इस दो विशेषताएँ प्रवृत्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला है। ये विशेषताएँ हैं मूर्त की सूक्ष्मोपमा तथा सूक्ष्म की मूर्तोपमा। उपमागत कई ऐसे दोष हैं, जो आजकल की रचनाओं में अधिक देखे जाते हैं। पर, अच्छे कवियों

की रचनाएँ ऐसे दोषों से प्रायः मुक्त रहती हैं। जब अप्रस्तुत के द्वारा बिम्ब-ग्रहण कराना होता है, तब सादृश्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है; और जब भाव को तीव्र करना अभीष्ट रहता है, तब केवल साधर्म्य से काम चल जाता है। 'विधवा' के वर्णन में अप्रस्तुत-योजना देखिए :

“वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।”

—निराला

इसमें प्रस्तुत—विधवा—मूर्त्त है, पर इसकी अप्रस्तुत-योजनाएँ कुछ तो मूर्त्त-सी हैं और कुछ सूक्ष्म। 'मन्दिर की पूजा-सी', 'काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी' सूक्ष्म अप्रस्तुत-योजनाएँ हैं। 'दीप-शिखा-सी शान्त' तथा 'टूटे तरु की छटी लता-सी दीन' में अप्रस्तुत-योजनाएँ मूर्त्त रूप में की गई हैं, किन्तु शान्ति और दीनता के भाव की प्रबलता के कारण ये भी सूक्ष्म अप्रस्तुत-योजनाएँ ही कही जा सकती हैं। 'तलवार'-शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियों में सूक्ष्म अप्रस्तुत-योजनाएँ देखिए—

‘समर-भूमि में थिरक कौन वह नाच रही है अलबेली ।
विश्व-व्योम पर मदमाती-सी करती है अठखेली ॥
× × × ×
निर्दयता की निठुर मूर्त्ति-सी, हत्या की जय झण्डी-सी ।
उष्ण रुधिर की प्यासी जो नित रहती है रणचण्डी-सी ॥
दुष्ट जनों की कुटिल प्रीति-सी, चारु कामिनी-चितवन-सी ।
नीच हृदय की स्वार्थ-नीति-सी, पराधीनता-बन्धन-सी ॥
जीर्ण रूढ़ियों के हठ-सी, साम्राज्यवाद की काया-सी ।
विधवा के सन्तप्त हृदय-सी, नित अनर्थ की जाया-सी ॥
कामुकता की क्षणिक तृप्ति-सी, पतिव्रता की दृढ़ता-सी ।
रिपुता के घन में चपला-सी, महाक्रोध की जड़ता-सी ॥
धर्मराज की अति अभीतिमय सहनशीलता-सी वह मौन ।
सूनी गोद मत्स्य की हँस-हँस भरती रहती है वह कौन ?’

—करव

×

×

×

×

इसका प्रस्तुत—तलवार—एक मूर्त्त पदार्थ है, पर कवि ने इसके लिए जो अप्रस्तुत-योजना की है, सूक्ष्म उपमानों से भरी है। आजकल सूक्ष्म अप्रस्तुत-योजना की बड़ी बढ़ती है !

सूक्ष्म प्रस्तुत की मूर्त्त अप्रस्तुत-योजना कुछ कठिन है। इसी कारण हिन्दी के कवियों ने इस प्रकार की योजना का स्वागत अच्छी तरह नहीं किया। संस्कृत में इसके कितने अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' से इसका एक नमूना दिखलाया जा सकता है। नाटक के आरम्भ में ही जब राजा दुष्यन्त शकुन्तला के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित कर अनिच्छापूर्वक अपनी राजधानी जा रहे हैं, उसी समय के वर्णन में महाकवि कालिदास ने जो अप्रस्तुत-योजना की है वह बड़ी सुन्दर है। दुष्यन्त शरीर से अपनी राजधानी जा रहे हैं, पर उनका मन पीछे की ओर शकुन्तला के पास दौड़ रहा है, इसकी अप्रस्तुत-योजना, दण्ड में लगी हुई पताका, जो आगे लिये जाने के कारण पीछे की ओर फहराती है, से की है ! शरीर मूर्त्त है, और उसका उपमान दण्ड भी मूर्त्त है। मन सूक्ष्म है, पर उसका उपमान पताका मूर्त्त है। दोनों में पीछे की ओर जाने का अच्छा सादृश्य और साधर्म्य है। इस प्रकार के अप्रस्तुत से विम्ब-ग्रहण भी हो जाता है। 'विषाद'-शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखें—

‘कौन प्रकृति के कर्ण काव्य-सा
वृक्ष-पत्र की मधछाया में;
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है
अमृत-सदृश नश्वर काया में ?
अखिल विश्व के कोलाहल से—
दूर सुदूर निभृत निर्जन में,
गोधूली के मलिनांचल में,
कौन जंगली बैठा वन में ?
शिथिल पड़ी प्रत्यंचा किसकी ?
घनुष भग्न सब छिन्न जाल है;
वंशी नीरव पड़ी धूलि
तरकस का भी बुरा हाल है ।

× × ×

निर्झर कौन बहुत बल खाकर
विलखाता, ठुकराता फिरता,
खोज रहा है स्थान घरा में
अपने ही चरणों में गिरता ?
किसी हृदय का यह विषाद है
छेड़ो मत यह सुख का कण है;
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ
करुणा का यह थका चरण है !' —प्रसाद

इसका प्रस्तुत—विषाद—एक भाव है, अतएव सूक्ष्म है, पर इसके लिए कवि ने जो अप्रस्तुत-योजना की है, वह मूर्त्त है। भाव का रूपक बाँधना सरल नहीं है। जो कवि मनोविज्ञान से अच्छा परिचय रखते हैं, वे ही सूक्ष्म की रमणीय अप्रस्तुत-योजना उपस्थित कर सकते हैं।

अलंकार रस का सहायक है। यदि किसी अलंकार से रसानुभूति में बाधा पहुँचे, तो उसे अलंकार की संज्ञा देना व्यर्थ है। नये युग की कविताओं के पहले जो कविताएँ रची गई हैं, उनमें अलंकारों की भरती के कारण बहुत ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें गणित की योजना से प्रस्तुत के प्रति भावों का उत्तेजन होता ही नहीं। अलंकार भाव-हानि के रूप में सब ग्रहों को ला बिठाना या गणित की समस्या हल करना काव्य को अपने पथ से हटाना है !

सहजानुभूतिवाले अध्याय में हम इस बात की थोड़ी चर्चा कर आये हैं। जिस वस्तु या तथ्य का हमारे चित्त पर कुछ प्रभाव न जम सके उसे काव्य से बाहर रखना ही अच्छा है। नये युग के कवियों की रचनाओं में जो अस्पष्टता रहती है, वह अपने भावों की गम्भीरता दिखाने की धुन का परिणाम है। पर पुराने कवियों ने अलंकार के बोझ से ही काव्य का दम तोड़ दिया है। प्रस्तुत की उत्कर्ष-व्यंजना के लिए ऐसी ऊहात्मक प्रणाली की सहायता ली जाती है कि उसके प्रस्तुत का प्रकृत महत्त्व तो जाता ही रहता है, पाठक या श्रोता के चित्त पर कुछ प्रभाव भी नहीं पड़ता। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में अपने महत् प्रस्तुतों के लिए जिन विराट् अप्रस्तुतों की योजनाएँ की हैं, वे काव्य के पथ से बहुत दूर चली गई हैं—

‘राम काम सत-कोटि सुभग तन, दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन ।
सक्र कोटि-सत सरिस बिलासा, नभ सत कोटि अमित अवकासा ॥

मरुत कोटि-सत विपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास ।
ससि-सत-कोटि सो सीतल, समन सकल भव-त्रास ॥
काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरंत ।
धूमकेतु सत कोटि-सम, दुराघरष भगवंत ॥

प्रभु अगाध सत कोटि पताला, समन कोटि सत-सरिस कराला ।
तोरथ-अमित कोटि सम पावन, नाम अखिल अघपुंज-नसावन ॥
हिमगिरि कोटि अचल रघवीरा, सिंधु कोटि सत सम गंभीरा ।
कामधेनु सत कोटि समाना, सकल काम-दायक भगवाना ॥
सारद कोटि अमित चतुराई, विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई ।
बिष्णु कोटि-सत पालन करता, रुद्र कोटि-सत-सम संहरता ॥
धनद कोटि सत-सम धनवाना, माया कोटि प्रपंच-निधाना ।
भारधरन सत कोटि अहीसा, निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥
ऐसे वर्णन से चित्त में केवल आश्चर्य या असत्यता के भाव का ही संचार होता है । सुन्दरता या शक्ति की कोटि-गुण महत्ता का कोई भाव उत्पन्न नहीं होता ।



पाँचवाँ अध्याय

प्रतीक और उपमान

यह एक मानी हुई बात है कि ज्ञान-क्षेत्र के भीतर ही भावों का प्रसार होता है। हर शब्द हमारे ज्ञान का ही एक अंग है। ज्ञान से शब्दों का इतना दृढ़ सम्बन्ध है कि उससे भिन्न हम कोई कल्पना ही नहीं कर सकते। सौन्दर्य शब्द के सुनते ही हमारे हृदय में सुन्दरता का भाव उत्पन्न होता है। सौन्दर्य में हम अन्य किसी भाव का आरोप नहीं करते। मधुरता से जिस भाव का आभास मिलता है, वह भयंकरता से नहीं। उच्चारण-मात्र से जिस भाव का परिचय मिलता है, वह हमारे ज्ञान से अलग नहीं। अन्य अपरिचित भाषा के शब्द, या जिन शब्दों के अर्थ से हम परिचित नहीं, वैसे शब्द हमारे हृदय में कोई अनुरूप विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकते। अँगरेजी के Horrible शब्द से भय का भाव उन्हीं को प्राप्त हो सकता है, जो इस शब्द के अर्थ से परिचित हैं। केवल शब्द में भयानकता का आरोप नहीं है। यदि ऐसा रहता, तो इस शब्द के किसी अपरिचित भाषा के पर्याय से भी हमारे हृदय में उसी में भाव की मृष्टि होती। पर ऐसा नहीं होता। सन्ताली भाषा का एक शब्द है 'वतर', जिसका अर्थ 'भयंकर' है। इस शब्द से हमारे मन में भय की कुछ कल्पना ही नहीं होती। इसका कारण उस शब्द से हमारी अज्ञानता है। जो शब्द जिससे जितना परिचित रहता है वह उसी अनुपात से भावों की मृष्टि करता है। खटाई खाते-खाते जिसकी जीभ से लार टपक पड़ती है, उसके सामने यदि 'खटाई' शब्द का उच्चारण किया जाय, तो सम्भव है, उस समय भी उसकी वैसे ही दशा हो जाय। केवल वैसे ही अपरिचित शब्दों से हमारे हृदय में भावोन्मेष हो सकता है, जिनके उच्चारण में सार्वभौमिक तथा स्वाभाविक भावभंगिमा की आवश्यकता पड़ती है। अँगरेजी से अनभिज्ञ श्रोता के लिए Horrible शब्द 'हरिबोल' की तरह श्रुतिमधुर हो सकता है, किन्तु किसी अँगरेज या अँगरेजी भाषा से अभिन्न व्यक्ति के लिए उस शब्द में कितनी भावनाओं की समष्टि है ! कुत्ते-बिल्ली को पुचकारने या बच्चों को चूमने में जो सार्वभौमिकता है, वही उसकी ब्रोधगम्यता की पहचान है।

प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनसे केवल अर्थ की व्यक्ति ही नहीं होती, वरन् भावनाओं का उद्बोधन भी होता है। जिन वस्तुओं में तनिक भी निजी विशेषतापूर्ण आकर्षण है तथा जिनपर दीर्घ सांस्कृतिक वासना का प्रभाव पड़ा है, वे शब्द हमारे काव्य में प्रतीक का काम

प्रतीक करते हैं। प्रतीकों के स्वरूप में कुछ-न-कुछ ऐसी व्यंजना
और रहती है, जिससे भावनाओं को विकास के संकेत मिल
उसके दो भेद जाते हैं। ऐसे प्रतीक मुख्यतः दो तरह के होते हैं—वे हैं भावोत्पादक तथा विचारोत्पादक; पर दोनों में से किसी एक का भी शुद्ध उदाहरण चुनना कुछ कठिन है। प्रायः, सब भावोत्पादक प्रतीकों में विचार मिले रहते हैं और उसी प्रकार प्रायः सब विचारोत्पादक प्रतीकों में भाव की स्थिति बनी रहती है। दो भेद करने का तात्पर्य केवल भाव और विचार की प्रधानता तथा गौणता से है। 'कमल' से सौन्दर्य का जैसा कोमल भाव जागरित होता है, वैसा 'साँप' से क्रूरता तथा कुटिलता का भाव उद्बुद्ध नहीं होता। साँप में भाव से अधिक विचार का सम्पर्क है। इसी प्रकार, सब प्रतीकों में मनोविकारों की थोड़ी-बहुत जटिलता बनी रहती है।

प्रत्येक देश की परिस्थिति तथा संस्कृति के विचार से प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। जलवायु, रहन-सहन, मभ्यता, शिष्टाचार, विचार-परम्परा के अनुकूल ही काव्य में आदर्श का विधान होता है। एक देश के काव्य के जो प्रतीक हैं, वे दूसरी जगह भी उसी प्रकार

प्रतीक की सम्मानित होंगे, यह कुछ आवश्यक नहीं। प्रतीक की
उद्भावना उद्भावना के लिए किसी जाति की धार्मिक संस्कृति तथा
के रहस्य परम्परागत विचार-शृंखला को भुला नहीं दिया जा सकता।

फारस में प्रणय की मधुरता को दिखाने के लिए शराब का प्रतीक व्यवहृत होता है, पर धार्मिक भावना ने जब शराब के प्रतीकत्व का विरोध किया, तब काव्य में नाम-मात्र का ही उल्लेख कर शायर उसका मजा लूटने लगे। हमारे वैदिक साहित्य में सोमरस-पान की बड़ी अधिकता है। उसके परवर्त्ती साहित्य में सुरापान का वर्णन भी है; किन्तु भारतीय काव्य में न तो सोमरस का प्रतीकत्व मान्य रहा और न सुरा का। सुधा उन दोनों से बाजी मार ले गई। काव्य में प्रतीक बनने का सौभाग्य सुधा को ही प्राप्त हुआ। सुधा को किसी ने देखा नहीं, लेकिन उसके स्वरूपगत आकर्षण

तथा अद्भुत शक्ति की जो धारणा परम्परा से हमारे मन में बँध गई है, वह काव्य की भाव-व्यंजना में बल प्रदान करती है। यूरोपीय काव्य में थोड़ी देर तक उगनेवाली धूप से आनन्द तथा जाड़े की संध्या से उदासी का संकेत मिलता है। पर, भारत की भौगोलिक स्थिति में अन्तर रहने के कारण वहाँ के ये प्रतीक यहाँ मान्य नहीं। बहुत ही थोड़े प्रतीकों को सार्वभौमिक महत्ता प्राप्त हो सकती है।

प्रतीक के लिए यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वह कोई गोचर वस्तु ही हो। गोचर हो या अगोचर, प्रतीक में सबसे बड़ी बात भाव या विचार को जगाने की क्षमता होनी चाहिए। ब्रह्मा, विष्णु, शिव को हमने देखा नहीं, किन्तु उनके नाम से ही मन में स्वरूपगत विशेषताएँ आ जाती हैं।

कल्पवृक्ष के अस्तित्व को कोई प्रमाणित नहीं कर सकता, प्रतीक और पर हमारी धार्मिक संस्कृति से सम्बद्ध रहने के कारण हम उसकी भाव-जगत् में उसकी स्थिति मानते हैं। कल्पवृक्ष के नाम-विशेषताएँ मात्र से हमारी आँखों के सामने एक ऐसी वस्तु आ जाती है, जिससे जब जो चीज माँगी जाय, देने को सदा तैयार है।

यह तो हुई अगोचर प्रतीकों की बात, लेकिन जो गोचर प्रतीक हैं वे काव्य में कुछ विशेष प्रयोजन भी सिद्ध करते हैं। चन्द्र, कुमुदिनी, आकाश, समुद्र, हंस, पतंग आदि हमारे मन में विशिष्ट भावनाएँ जागरित करते हैं। चन्द्र से स्निग्धता, आल्लाद तथा शीतल ज्योत्स्ना के; कुमुदिनी से शुभ्र हास के; आकाश से उच्चता, अनन्तता, सूक्ष्मता के; समुद्र से अगाधता, गम्भीरता, प्रचुरता के; हंस से विवेक, पक्षपातहीनता के और पतंग से लगन तथा एकनिष्ठा के भाव-संकेत मिलते हैं।

हमारे काव्यों में प्रतीकों के प्रतीकवत् व्यवहार बहुत ही कम हुआ करते हैं। वे प्रायः अलंकार-प्रणाली के भीतर उपमान के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। प्रतीक और उपमान में सबसे बड़ा अन्तर

यही है कि प्रतीक के लिए सादृश्य के आधार की आवश्यकता प्रतीक और यही है कि प्रतीक के लिए सादृश्य के आधार की आवश्यकता उपमान नहीं, केवल उसमें भावोद्बोधन की शक्ति रहनी चाहिए; पर उपमान में सादृश्य के आधार का रहना आवश्यक है।

वर्तमान कविताओं में अभिव्यंजनावाद के प्रभाव के कारण उपमान का आधार विशेषतः प्रभावसाम्य तथा रमणीयता है। जैसे—

‘धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल
वेदना-दूती-सी तुम कौन ?’

—प्रसाद

प्रार्थना में जो विनम्रता है, वही धरा पर झुकने के स्वरूप का आभास देती है। विना फूँक दिये मुरली मौन ही रहती है। ‘मधुर’ विशेषण प्राप्त करने के लिए मुरली को एक बार भी अवश्य अपना मौन भंग करना पड़ा होगा और अब मौन हो जाने पर भी मुरली या व्यक्तित्व की विशेषता पहले ही लक्षित हो गई रही होगी। वेदना-दूती की भावात्मक सत्ता के साथ किसी स्थूलाकार उपमेय का सामंजस्य काव्य में जीवन ला देता है। ‘उद्भ्रान्त प्रेम’ पुस्तक की पंक्तियों से इसका बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण होता है। ‘मुख’ के उपमान के रूप में सादृश्य को छोड़कर केवल प्रभाव-साम्य तथा रमणीयता पर दृष्टि रख कितनी मार्मिक अप्रस्तुत-योजना की गई है ! “अहा ! वह मुखड़ा—क्योंकर कहूँ, वह मुखड़ा कैसा है ! याद आते ही छाती फटने लगती है, सिर चकराने लगता है, आँख और कान से बिजली की लपट निकलने लगती है, और रग-रग में, नस-नस में, बिजली दौड़ जाती है—तब क्योंकर बतलाऊँ कि वह मुखड़ा कैसा है ! वह न तो अप्सरा-कण्ठ से निकले हुए गीत-सा है, न तो दूर से आये वीणा के शब्द-जैसा है, न तो नदी के हृदय पर खेलते हुए अस्फुट चन्द्रालोक में विरह-संगीत-जैसा है और न तो सद्यः-प्रस्फुटित कुसुमों की भीनी-भीनी सुगन्ध लेकर बहती हुई निदाघ-काल की सन्ध्या-वायु-सा है।” यहाँ ‘मुख’ उपमेय की तरह है और साथ ही वह मूर्त्त भी है; किन्तु मुख के उपमान-रूप में जो अप्सरा-कण्ठ के गीत, दूरागत वीणा के शब्द, चन्द्रालोक में विरह-संगीत, कुसुम-सुगन्ध से भरी निदाघ की सान्ध्य-वायु के वर्णन किये हैं, वे वस्तुतः रूप-सादृश्य दिखाने के लिए नहीं, वरन् मुख को देखने के आह्लाद-सादृश्य के बोधक-मात्र हैं। यह दूसरी बात है कि उद्भ्रान्त प्रेमी ने अपनी दिवंगता परिणीता के मुख के सम्मुख उनको हेय माना है ! उस मुख को देखकर जितना आह्लाद होता था उतना अप्सरा-कण्ठ से निकले गीत को सुनकर भी नहीं होता। वीणा के शब्द और चन्द्रालोक में विरह-संगीत को सुनकर कुसुम-गन्ध से भरी निदाघ की

सान्ध्य-वायु के घ्राण तथा स्पर्श से हृदय में जो आह्लाद होता है, वह उस मुख को देखने के आह्लाद के समान नहीं है। वह आह्लाद अनिर्वचनीय है। यहाँ आह्लाद ही मुख्य उपमेय है, जो मुख में अध्यवसित कर दिया गया है।

सादृश्य-मूलक अलंकारों के उपमान में बहुत थोड़े ऐसे हैं, जिनमें प्रतीकत्व है। काव्य में अप्रस्तुत-योजना का मुख्य उद्देश्य है भावोत्तेजन। केवल आकार-प्रकार या नाप-जोख से मिले हुए उपमान भावबोध चाहे करा भी सकें, किन्तु भावोत्तेजन के विचार से वे सदा असमर्थ रहेंगे। जो उपमान प्रतीक-स्वरूप हैं वे काव्य का बड़ा मार्मिक विधान कर सकते हैं।

प्रतीक-स्वरूप यहाँ यह बात भूल न जानी चाहिए कि प्रत्येक देश के **उपमान** साहित्य में ऐसी कम वस्तुएँ रहती हैं, जिनमें प्रतीकत्व मिलता है। लेकिन काव्य की अप्रस्तुत-योजना को इसी सीमा में रखने से उसका व्यापार आगे नहीं बढ़ सकता। प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापारों, तरह-तरह के दृश्यों से कवि अपनी सामग्री का संचय करता है। उसपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसे प्रकृति को देखने के लिए मार्मिक अन्तर्दृष्टि चाहिए। इसी एक से उसका काम पूरा हो जायगा।

जिस अप्रस्तुत में जितना ही प्रतीकत्व रहेगा उसपर की गई अन्योक्ति उतनी ही मार्मिक होगी। भ्रमर, कमल, हंस आदि के ऊपर अप्रस्तुतत्व का बोझ बहुत दिनों से लदा हुआ है, किन्तु उनमें प्रतीकत्व भी है। **अन्योक्ति में** इसी कारण अबतक वे हमारी काव्याभिरुचि के बहुत बड़े **प्रतीकत्व** बोझ नहीं बन सके हैं। रुचि पर बोझ पड़ते ही काव्य की सरसता नष्ट हो जाती है। अन्योक्ति पर विचार करते समय यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि केवल सादृश्य से उसका काम नहीं चलने का, अथवा यही कहा जा सकता है कि रूप-सादृश्य का उसमें कुछ प्रयोजन ही नहीं। जैसे—

‘काल कराल परे कितनो

पै मराल न ताकत तुच्छ तलैया।

इस अन्योक्ति का तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरुष विपन्न होने पर भी अनुचित कार्य की ओर नहीं झुकते। अब यहाँ यह स्पष्ट है कि मराल—हंस—और

विवेकी पुरुष में कुछ भी रूप-साम्य नहीं है, बल्कि इसके विपरीत भिन्नता-ही-भिन्नता है। हंस के प्रति विवेक की जो धारणा हमारे चित्त में बद्धमूल है, वही उसमें और विवेकी पुरुष में साम्य की स्थापना करती है।

अन्योक्ति में समता का उल्लेख दोष माना जाता है, अतएव अप्रस्तुत और प्रस्तुत के साम्य की भावना ऐसी व्यापक होनी चाहिए, जिससे अन्योक्ति सुनते ही अप्रस्तुत का आरोप प्रस्तुत पर किया जा सके। इस प्रकार, साम्य-स्थापन केवल उपमान या रूढ़ उपमान के बल पर नहीं किया जा सकता। प्रतीकत्व के बिना यह सम्भव नहीं, प्रतीक में साम्य की क्षमता स्वभावतः रहती है।

लाक्षणिकता के बल पर आधुनिक कविताओं में कुछ ऐसे उपमान भी रखे जाते हैं, जिनमें उपमान के गुण तो पूरे नहीं रहते, किन्तु प्रतीकत्व मिलते हैं। ऐसे उपमानों के विधान में प्रायः लाक्षणिक चमत्कार दिखाने के लिए धर्म के स्थान में धर्मी का उल्लेख कर दिया जाता है। इस प्रकार के प्रयोग शुद्ध प्रतीक नहीं, बल्कि लाक्षणिक प्रतीक हैं; जैसे—

लाक्षणिक
प्रतीक

‘करुण भौंहों में था आकाश,
हास में शैशव का संसार
तुम्हारी आँखों में कर वास
प्रेम ने पाया था आकार !
उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के साँस।’ —पन्त

कवि की कल्याणी की करुण भौंहों में उच्चता का आभास था, यह न कहकर आकाश ही कहा गया। उसकी हँसी विश्व के पक्षपातपूर्ण वातावरण से निरपेक्ष थी, शुद्ध थी, इसके लिए शिशुओं का संसार उठा लिया गया। हृदय में उल्लास था, यह न कहकर ऊषा का आवास ही बता दिया गया। मुख से—वाणी के—जो उद्गार निकलते वे रमणीय होते थे, न कहकर अधखिली कली का मृदुल विकास ही उसमें दिखाया गया। कवि की मनोरमा का स्वभाव बहुत ही स्निग्ध तथा आह्लादक था, यह बताने के लिए

उसने चाँदनी की शरण ली। विचारों के भोलेपन के उपमान के लिए बच्चों से बढ़कर भोला कहाँ मिलता ! 'बच्चों के साँस' से कवि ने इसी भोलेपन का निर्देश किया है।

अब यहाँ यह देखना है कि शुद्ध प्रतीक और लाक्षणिक प्रतीक में कितना अन्तर है। उपर्युक्त पंक्तियों में आकाश और ऊषा-शुद्ध-लाक्षणिक प्रतीक प्रतीक माने जायेंगे; परन्तु शैव का संसार, मुकुल का और मृदुल विकास, चाँदनी का भास तथा बच्चों की साँस के शुद्ध प्रतीक प्रतीकत्व लक्षणा के सहारे व्यक्त हुए हैं। अतएव, उल्लिखित वाक्य-खण्ड लाक्षणिक प्रतीक के ही उदाहरण माने जायेंगे। आधुनिक हिन्दी-कविताओं में ऐसे प्रयोग सीधे अंगरेजी से आये हैं। सुकवि सुमित्रानन्दन पन्त को छोड़कर हिन्दी के अन्य कवियों की रचनाओं में लाक्षणिक प्रतीक के प्रयोग बहुत ही कम मिलते हैं।

प्राचीन काव्य-परम्परा में जो उपमान हैं उनमें से कुछ तो विशुद्ध 'कवि-समय' सिद्ध हैं, प्रमाण की आवश्यकता नहीं, और कुछ ऐसे हैं जो काव्य की रसोद्भावनता के साधक न होकर बाधक ही होते हैं। नायिका प्राचीन उपमानों की नाक के लिए मुग्गे की चोंच, कमर के लिए सिंह की या भीड़ की कमर और जाँघ के लिए हाथी की सूँड़ रस-बाधकता में चाहे थोड़ा रूप-सादृश्य मिले भी, किन्तु उनमें वह रमणीयता कहाँ है, जो काव्य को वस्तुतः अनुप्राणित करती है। यदि ऐसे उपमानों के आधार पर किसी नायिका का चित्रांकन किया जाय, तो वह बहुत-कुछ एक व्यंग्य-चित्र की तरह ही मालूम पड़ेगा।



छठा अध्याय

अमूर्त्त का मूर्त्त-विधान

आजकल काव्य में कई प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से लक्षित हो रही हैं। ये प्रवृत्तियाँ अधिकांशतः भारतीय साहित्य की होने पर भी विदेशी साहित्य की प्रवृत्तियों से विशेषतः प्रभावित हुई हैं। लक्षणा तथा साध्यवसान रूपक द्वारा कभी-कभी सूक्ष्म का बहुत ही मार्मिक मूर्त्त-विधान किया जा सकता है। लाक्षणिक प्रयोग प्रायः उसी समय किये जाते हैं, जब भाषा की अभिधा-शक्ति भावों को स्पष्ट तथा तीव्र करने में असमर्थ हो जाती है या जब किसी भाव-विशेष की वक्रतापूर्ण व्यंजना करना अभीष्ट होता है। लक्षणा करने में सभी कवियों की क्षमता समान नहीं रहती। इसी कारण इसके मार्मिक तथा काव्योपयुक्त प्रयोग के लिए कवियों को जन-समाज की अनुभूति तथा विचार-परम्परा पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। जो भाव जितनी ही विस्तृत जनमण्डली की अनुभूति के अनुकूल होते हैं, उनपर की गई लक्षणा उतनी ही बोधगम्य तथा मर्मस्पर्शी होती है। आजकल लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता के कारण बहुधा कविगण लक्षणा के ऊपर भी लक्षणा कर देते हैं। अंगरेजी भाषा में लाक्षणिक चपलता अधिक है, इसका कारण केवल उस भाषा की ऐसी विशेषता ही नहीं, वरन् वैसे अनेक प्रयोगों से जन-समाज का परिचित रहना भी है। जो भाषा जितनी मँजती रहती है, उसमें लाक्षणिकता के लिए उतनी ही सुविधा रहती है। हिन्दी में कुछ कवियों ने शुद्ध अनुकरण के बल पर बेढंगा लाक्षणिक चमत्कार दिखलाया है, जिससे भाषा और भाव की दुरूहता ही बढ़ी है। ऐसे चमत्कार-प्रदर्शन से भाव को तो कोई आधार मिलता ही नहीं, भाषा की मौलिक विशेषता मारी जाती है। सुन्दर लाक्षणिक प्रयोगों से भाषा तथा साहित्य का वैभव अवश्य बढ़ता है; अतएव कुशल तथा कृतविद्य कवियों को ही इस ओर हाथ बढ़ाना चाहिए।

हिन्दी-काव्य में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता से जो नई विशेषता आई है उसे हिन्दी के उद्भूत तत्त्वान्वेपी समालोचक तक पसन्द करते तथा मानते हैं।^१ पर, इस प्रकार की पसन्द और स्वीकारोक्ति की एक सीमा है, जो अपने स्थान पर ठीक है। आजकल प्रायः जीवन के मार्मिक पक्षों की ओर से लाक्षणिक मूर्ति- कवियों का ध्यान हटकर वैचित्र्य-प्रदर्शन की ओर जाने मत्ता का कारण लगा है। काव्य के स्वाभाविक विकास तथा बोधगम्यता में ऐसी रुचि से बड़ी बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इस वेदंगी शब्द-भंगी के अपरिमित प्रकार का कारण सम्पूर्णतः हमारी अज्ञानता से ही सम्बन्ध नहीं रखता। इसकी उत्पत्ति प्रतीकत्व से हुई-सी जान पड़ती है। इस प्रतीकत्व का आधार तो मूर्ति-पूजा को मानना ही पड़ेगा। इन्हीं प्रतीकों के सहारे सूक्ष्म भावों का मूर्त-विधान किया जाता है; काव्य के प्रतीकवाद के कारण नहीं। जी ललचने को 'रसनाएँ' लपलपा रही हैं, व्यथा उत्पन्न होने को 'व्यथा जगती है' आदि कहने से तत्सम्बन्धी भावों के गोचररूप उपस्थित हो जाते हैं। अमूर्त से मूर्त में यदि इतनी विशेषता न रहती, तो प्रागैतिहासिक काल से अगणित पथरों के टुकड़ों पर छेनियों की मार न पड़ती, उन स्थानों पर दो-चार छन्दों को खोदकर ही छोड़ दिया जाता। काव्य में भावना का मूर्त-विधान किया जाता है, स्थूल मूर्त का विधान असम्भव है। चित्र या

१. "खड़ीबोली की कविता जिस रूखी-सूखी चेष्टा के साथ खड़ी हुई थी उसमें काव्य की झलक बहुत कम थी। खड़ीबोली की कविताओं में उपमा-रूपक आदि के ढाँचे तो रहते थे, पर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और भाषा की विमुक्त स्वच्छन्द गति नहीं दिखाई देती थी। अभिव्यंजना-वाद के कारण यूरोप के काव्य-क्षेत्र की उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति, जो हिन्दी के वर्तमान काव्य-क्षेत्र में आई, उससे खड़ी बोली की कविता की व्यंजना-प्रणाली में बहुत कुछ सजीवता तथा स्वच्छन्दता आई। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्य-भाषा की व्यंजकता अवश्य बढ़ रही है। दूसरी अच्छी बात यह हुई कि अप्रस्तुतों या उपमाओं के रखने में केवल सादृश्य-साधर्म्य पर दृष्टि न रखकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर अधिक रहने लगी।"

—रामचन्द्र शुक्ल : भाषण (हि० सा० सम्मेलन, इन्दौर, १९९२ वि०)

मूर्त्तिकला एक ऐसी भाषा है, जिसे संसार के सभी देशों तथा जातियों के मनुष्य समझ सकते तथा उससे भाव-ग्रहण कर सकते हैं। सूक्ष्म के मूर्त्त-विधान में इस बात पर अवश्य ध्यान देना आवश्यक है कि वह हास्यास्पद न हो जाय।

जिस भाव के जो धर्म हैं, उनसे अधिक की प्रवृत्ति से पाठकों के चित्त में विकृति नितान्त सम्भावित है। अभिलाषा के पर लक्षणा जगने तक से हम उसका लाक्षणिक भाव समझ लेते हैं, पर लक्षणा के ऊपर लक्षणा लादकर उससे 'करवट' बदलवाना

ठीक नहीं। यदि कोई कहे—'मैं दवा लाने अस्पताल जा रहा हूँ, कल से मेरी अभिलाषा को ज्वर आया है' तो हँसी के सिवा और कौन-सा भाव उत्पन्न होगा ! प्रत्येक भाव की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं पर ध्यान रखकर ही मूर्त्त-विधान करना अच्छा है। भावों को गोचर बनाने की प्रवृत्ति का विकास अब धीरे-धीरे गद्य में भी होने लगा है। प्रेमचन्दजी को कविता से प्रकटतः

कोई सम्बन्ध नहीं रहा, रहस्यवाद तो उसके आगे की लाक्षणिक प्रवृत्ति चीज है। उनकी रचना में भी गोचर-योजना मिलती है।

का विकास 'दिल की रानी' कहानी में है—'मानव-रक्त का प्रवाह संगीत का प्रवाह नहीं है, रस का प्रवाह नहीं, वह ऐसा बीभत्स दृश्य है, जिसे देखकर आँखें मुँह फेर लेती हैं, हृदय सिर झुका लेता है।' आँखों के मुँह और हृदय के सिर होते हैं, यह जानकर, सम्भव है, बहुत-से समालोचक घबरा उठें, किन्तु एक निश्चित सीमा के भीतर रहकर इस प्रवृत्ति से साहित्य का थोड़ा वैभव बढ़ेगा, इसमें सन्देह नहीं।

सूक्ष्म भावों की अनुभूति जब विशेष गम्भीर हो जाती है या जब सूक्ष्म भावों की गम्भीर व्यंजना करना अभीष्ट होता है, तब सूक्ष्म भावों को सूक्ष्म का मूर्त्त मूर्त्त—गोचर—बना दिया जाता है। जो हृदय का केवल भाव-मात्र है, उसमें यदि मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण की योग्यता लाई जाय, तो स्वभावतः उसकी प्रभविष्णुता बढ़ जायगी। जैसे—

‘सुख आहत शान्त उमंगें
बेगार साँस ढोने में
यह हृदय समाधि बना है
रोती करुणा कोने में

× × ×

उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है
रोई आँखों में निद्रा
वनकर सपना होता है।

× × ×

इस करुणा-कलित हृदय में
क्यों विकल रागिनी वजती ?
क्यों हाहाकार स्वरो में
वेदना असीम गरजती ?

—प्रसाद

इसमें सुख-आहत शान्त उमंगों का साँस ढोना और हृदय को समाधि बनाकर करुणा को कोने में रूलाना, उच्छ्वास और आँसू में थके विश्राम को सुलाना और निद्रा वनकर सपना होना, करुणा-कलित हृदय में विकल रागिनी का वजना तथा हाहाकार स्वरो में वेदना का असीम गरजना मार्मिक लाक्षणिक मूर्तिमत्ता है। उमंगों में भार ढोने की क्षमता की कमी नहीं, करुणा के विश्लेषण में इस बात के स्पष्ट लक्षण मिलते हैं कि यदि करुणा दूसरों के लिए न रो सकी, तो अपनी इस असमर्थता पर स्वयं रोने लगती है। विश्राम को थककर सोने के लिए उच्छ्वास और आँसू की गोद से बढ़कर सुखकर स्थान नहीं मिल सकता। करुणाद्रि हृदय की अशान्ति स्वभाव-सिद्ध है, रागिनी में थोड़ी-सी ठेस लगते ही वह क्षनक्षणा उठती है। फिर जो रागिनी स्वतः विकल है, वह करुणा की चोट से क्यों न वज उठे ! हृदय की रागिनी के वजते ही वेदना शान्त नहीं रह सकती, वह निश्चय ही हाहाकार के स्वरो में गरज उठेगी।

‘है विषाद का राज तड़पता
बन्दी बनकर सुख मेरा;
कैसे मूर्च्छित उत्कण्ठा की
दारुण प्यास बुझाऊंगा ?
सहमी-सी हैं खड़ी, कहीं
ये टूट न जायें दीवारें।
करुणा की आँखें बरसातीं
तप्त आँसुओं की धारें।’—द्विज

विषाद के राज्य में कवि का सुख बन्दी बनकर तड़प रहा है। उसे यह पता नहीं कि वह अपनी उत्कण्ठा—मूर्च्छित उत्कण्ठा—की दारुण प्यास कैसे बुझा सकेगा। सुख का मूर्त रूप में तड़पना तथा उत्कण्ठा का, जो हृदय की उच्छ्वसित तथा अव्यक्त भावना है, विषाद के राज्य में मूर्च्छित होना स्वाभाविक व्यापार हैं। सुख के दिनों में प्रत्येक उत्कण्ठा की पूर्ति सम्भव है, पर जब सुख स्वयं बन्दी हो गया हो और विषाद का राज्य हो, तब उत्कण्ठा का अपने विनाश की आशंका से मूर्च्छित होना मनोवैज्ञानिक विशेषता है। ऐसी स्थिति में उत्कण्ठा की प्यास बुझाना—उसकी पूर्ति करना—वस्तुतः एक समस्या है। दीवारों के सहमकर खड़े होने में जो प्राण-स्पन्दनमय जीवन की झलक है, उसमें उनके गिरने का संशयमय वातावरण भी है। यहाँ करुण भाव की अनुभूति इतनी गम्भीर हो गई है कि कवि को करुणापूर्ण आँखों के बदले करुणा की आँखें कहने में ही अच्छा लगता है। करुणा के आँखें भी होती हैं या नहीं, यह विचारने के लिए कवि अवकाश नहीं चाहता। वह इसी बात को समझकर प्रसन्न हो जाता है कि करुणापूर्ण आँखों की जगह यदि स्वयं करुणा की आँखें ही आँसू बरसाने लगे, तो इस प्रकार भाव की गम्भीरता बहुत बढ़ जाती है। दूसरों की देखी घटना और स्वयं अपनी आँखों-देखी घटना के मर्म में बड़ा अन्तर है। प्रेम को अन्धा बनाकर कवियों ने प्रेमियों को गली-गली का भिखारी बना, चाहे जितनी खाक छनवाई हो, पर दूसरों के प्रोत्साहन से करुणा घड़ियाली आँसू नहीं बहा सकती।

‘लूट लेंगे मुझको ये लोभ
समेटो इनकी भीड़ अपार।’—द्विज

लोभ किसी वस्तु की प्राप्ति करानेवाली वृत्तियों का पोषक है। उसका पहला संवेदनात्मक अंग है सुख और इसको प्रेरित करती है सुख का उपभोग करानेवाली वासना। लोभ में अपनी वस्तु की संरक्षा और दूसरे की वस्तु को हड़पने का भाव रहता है, किन्तु यहाँ स्वयं लोभी का ही लोभ से लूटे जाने की उक्ति से लोभ साकार बनकर लुटेरों का सघर्षी हो गया है।

‘रोता था सिसक-सिसक कर
अरमान अधूरे जलते
हंसती थी मौत निगोड़ी
आशा अंटकी कर मलते।’—विमल

अमूर्त का मूर्त-विधान

अधूर अरमानों के जलने, मौत के हँसने तथा आशा का अँटककर हाथ मलने से सूक्ष्म का बड़ा सुन्दर मूर्त प्रत्यक्षीकरण होता है। वर्णन सजीव-सा हो गया है। इसी को देखकर कवि सिसक-सिसककर रोने को बाध्य हुआ।

‘स्मृतियाँ वेहोश पड़ी हैं
तुम आज न उन्हें जगाते
कवि ऐसे अँघियाले में
दीपक क्यों तुम न जलाते ?’

—सुहृद

स्मृतियों के वेहोश पड़े रहने में मुमूर्षु जीवन का गोचर-विधान किया गया है और उन्हें न जगाने या जगाने में भी वही मूर्तिमत्ता है।

‘लोग आँकते हैं सुख की कीमत शत-शत लाखों में
सुनते हैं, अभिमान नाचता प्रभुता की आँखों में।’

—कैरव

प्रभुता की आँखों में अभिमान के नाचने का गोचर-विधान किया गया है। प्रभुता की आँखों से अंगों में अन्यान्य अंगोपांग की सम्भावना झलकती है और नाचने के लिए अभिमान को, और कुछ नहीं तो, दो पाँव अवश्य चाहिए। अभिमान और प्रभुता में प्रत्यक्षीकरण की योग्यता लाई गई है।

लक्षणा के सहारे काव्य में एक और प्रवृत्ति लक्षित हो रही है, वह है धर्म के स्थान में धर्मों का प्रयोग। इस प्रकार का प्रयोग अन्य लाक्षणिक प्रयोगों से अपेक्षाकृत कठिन है। इसमें किसी वस्तु के गुण या धर्म के बदले उसी वस्तु का उल्लेख कर दिया जाता है। इस प्रकार के धर्म के लिए उल्लेख में यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि काव्य में धर्मों का गुण या धर्म के लिए जिस वस्तु का उल्लेख किया जाय, वह विशेषतः अपने उसी गुण या धर्म के लिए प्रसिद्ध हो। यदि उस वस्तु में वैसी विशेषता न रही तो काव्य का चमत्कार लक्षित न होगा और न उस वस्तु से अभिप्रेत गुण या धर्म की ही विशेषता प्रकट होगी। पिछले अध्याय में लाक्षणिक प्रतीक की चर्चा करते

हुए हमने कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। विविक्त उदाहरण के अभाव में हम पुनः उन्हें उद्धृत करते हैं।

‘उषा का था उर में आवास
मुकुल का मुख में मृदुल विकास
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचार में बच्चों के साँस।’

—पन्त

ऊषा, मुकुल, चाँदनी तथा बच्चों के जो गुण या धर्म हैं, उनका उल्लेख न कर उन वस्तुओं का ही उल्लेख कर दिया गया है। यही इस प्रकार के प्रयोग की विशेषता है।



सातवाँ अध्याय

मूर्त्त का अमूर्त्त-विधान

काव्य में अमूर्त्त को मूर्त्त बनाने की जो प्रवृत्ति है, वही मूर्त्त को अमूर्त्त भी बनाती है। सूक्ष्म भावों को गोचर स्वरूप देने के लिए मनोविज्ञान की जिन विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है उनसे गोचर स्वरूपों को सूक्ष्म बनाने में प्रायः सहायता नहीं मिलती। एक-दूसरे का मूर्त्त तथा अमूर्त्त परिवर्तित रूप होने पर भी दोनों के भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं।

का सूक्ष्म भावों का गोचर-विधान थोड़ी-सी सावधानी के साथ विवेचन किया जा सकता है, पर मूर्त्त को सूक्ष्म भाव बनाने में बड़ी सतर्कता चाहिए। सूक्ष्म में स्थूल की सारी विशेषताएँ लक्षित हों, यह प्रश्न नहीं है, किन्तु जिस विशेषता के लिए मूर्त्त वस्तु प्रसिद्ध हो, उसकी अवस्थिति तो निश्चय ही चाहिए। यदि किसी मूर्त्त वस्तु में अनेक गुण हों, तो उसको भावात्मक बनाते समय किसी एक ही प्रयोजनीय गुण पर दृष्टि रखनी चाहिए। भावों की समष्टि से मूर्त्त की एकरूपता का आभास नहीं मिलता और जब एकरूपता मिलती नहीं, तब मूर्त्त का प्रयोजनीय विम्ब-प्रतिविम्बभाव भी नष्ट हुआ समझिए।

स्थूल वस्तु के प्रति जब मनोवृत्ति को गम्भीर करना अभीष्ट होता है या पाठकों को विचार-तत्पर करना होता है, तब वस्तु की मूर्त्तिमत्ता को हटाकर केवल उसकी भावात्मक सत्ता का विधान किया मूर्त्त का अमूर्त्त जाता है। प्रत्येक मूर्त्त को सूक्ष्म भाव में परिवर्तित नहीं विधान किया जा सकता है। वैसे मूर्त्तों का अमूर्त्त-विधान बड़ी सरलता से किया जा सकता है, जिनमें भावों या विचारों का गूढ अन्तर्न्यास रहता है। गुण या धर्म की मुख्य विशेषता भी अमूर्त्त-विधान में बड़ा योग देती है। जैसे—

‘यात्री हूँ अति दूर देश का पल-भर यहाँ ठहर जाऊँ ;
थका हुआ हूँ, सुन्दरता के साथ बैठ मन बहलाऊँ।
‘एक घूंट बस और’ हाय रे ! ममता छोड़ चलूँ कैसे !
दूर देश जाना है, लेकिन यह सुख हाय ! कहाँ पाऊँ !’

इहलोक से परलोक जानेवाले थके पथिक की इच्छा होती है कि वह इहलोक में थोड़ी देर ठहरकर जीवन के आनन्द का कुछ और उपभोग कर ले। कवि ने सुन्दरी स्त्री के प्रति पाठकों को विशेष रूप से विचारोन्मुख करने के लिए 'सुन्दरी' के बदले 'सुन्दरता' पद का प्रयोग किया है। सुन्दरता में यह विशेषता आई कि कुरूपा के साथ भी यदि पथिक की तबीयत बहल जाती, तो प्रधान रूप से सौन्दर्य का उल्लेख न होता और न स्त्रीत्व का अध्यवसान ही पूर्ण रूप से 'सुन्दरता' में किया जाता।

'सो देखा चाँदनी एक दिन राज अमा पर छोड़ गई ;

खिजाँ रोकती रही लाख कोयल वन से मूँह मोड़ गई।

और, आज क्यारी क्यों सूनी ? अरे, बता किसने देखा !

गलबाहीं डाले सुन्दरता काल-संग किस ओर गई ?'

—दिनकर

इसमें यदि केवल सुन्दरता के नष्ट होने का वर्णन रहता, तो यह सूक्ष्म का सूक्ष्म ही रहता, पर कवि ने बड़ी चतुरता से गलबाहीं दिलाकर और 'जाना' क्रिया (भूतकाल—गई) का प्रयोग कर मूर्तिमती सुन्दरी स्त्री की त्वचा पर से सुन्दरता को उतारा नहीं, बल्कि काव्य की रासायनिक क्रिया से मूर्त सुन्दरी स्त्री को ही अमूर्त सुन्दरता में परिणत कर दिया।

'जब विमूर्च्छित नींद से मैं था जगा

(कौन जाने, किस तरह ?) पीयूष-सा

एक कोमल समव्यथित निःश्वास था

पुनर्जीवन-सा मुझे तब दे रहा।'

—पन्त

पन्तजी की 'ग्रन्थि' नामक कविता-पुस्तक का नायक एक ताल में डूब गया था। एक नायिका ने उसे ताल से बेहोश निकाला और उसका बड़ा उपचार किया। जब उसकी बेहोशी कौ नींद टूटी, तब उसे मालूम पड़ा कि एक नायिका बड़ी अनुकम्पित होकर उसको अनुप्राणित कर रही है। उस मूर्तिमती नायिका को कवि ने (समव्यथित निःश्वास) में परिवर्तित कर

दिया है। नायक की संज्ञाशून्यता के कारण नायिका का सुकुमार हृदय बार-बार स्पन्दित हो रहा था। हृदय की ऐसी स्थिति में श्वास-प्रश्वास की गति प्रायः असाधारण हो जाया करती है। कवि ने यही लक्ष्य किया और मूर्त्त नायिका को अमूर्त्त बनाते समय इसी निःश्वास को प्रधानता दी। निःश्वास को प्रधानता देने से सबसे मार्के की बात तो यह हुई कि संज्ञा-शून्य को पुनर्जीवित करने के लिए निःश्वास से बढ़कर और कौन-सा साधन मिलता ! नायिका ने अपनी सेवा-शुश्रूषा से नायक को मृत्यु के मुख से बचा लिया, फिर निःश्वास का सारा प्रयोजन ही सिद्ध हो गया।

‘म्लान तम में ही कलाघर की कला
कौमुदी वन कीर्त्ति पाती है धवल;
दीनता के ही विकम्पित पात्र में
दान बढ़कर छलकता है प्रीति से।
प्रिय ! निराश्रिति की कठिन बाँहें नहीं
शिथिल पड़ती हैं प्रलोभन-भार से,
अल्पता की संकुचित आँखें सदा
उमड़ती है अल्प भी अपनाव से।’

—पन्त

जिस प्रकार अँधेरी रात में ही चन्द्रमा की किरणें विशेष रूप से समुद्रासित होती हैं, उसी प्रकार दीन मनुष्य के काँपते हुए हाथ में ही दान की वस्तु छलकती है। यहाँ दीन मनुष्य को दीनता बनाकर कवि ने दैन्यभाव कूट-कूटकर भर दिया है। वह मनुष्य दीनता-ही-दीनता है, विशेष कुछ उसके पास नहीं। ‘दीनता’-पद के प्रयोग से कवि ने पाठकों की मनोवृत्ति को गम्भीर करने का प्रयत्न किया है। विकम्पित पात्र में दान का छलकना बड़ा सुन्दर चित्रण है। निराश्रिति की मजबूत बाँहें प्रलोभन-भार से दबती नहीं। तुच्छ मनुष्य की आँखें थोड़ी-सी सहृदयता से ही भर आती हैं। ‘अल्पता’ का प्रयोग कर कवि ने, तुच्छ मनुष्य में अल्पता-तुच्छता का जो भाव रहता है, उसी ओर पाठकों को विचार-तत्पर किया है। जिस मनुष्य को कभी किसी से कुछ सहृदयता नहीं मिली, उसे यदि किसी से कभी थोड़ा भी अपनाव मिल गया, तो उसकी आँखें स्वभावतः कृतज्ञता से उमड़ आती हैं।

संकुचित का अल्प से उमड़ने के वर्णन में कवि ने अपनी इसी व्यापक अन्तर्दृष्टि से काम लिया है।

‘स्वप्न के सस्मित अधर पर नींद में
एक बार किसी अपरिचित साँस का
अर्ध चुम्बन छोड़ मैं झट चौंककर
जग पड़ी हूँ अनिल-पीड़ित लहर-सी।’

—पन्त

इसमें अपरिचित पुरुष के स्थान में अपरिचित साँस का प्रयोग किया गया है। मूर्त से अमूर्त में यहाँ यह विशेषता आ गई है कि स्वप्न में किसी मूर्त का चुम्बन था, अर्धचुम्बन सम्भव नहीं, जगने पर ही यह हो सकता है, पर अपरिचित साँस के सूक्ष्म अस्तित्व का अर्धचुम्बन स्वप्नावस्था में बहुत सम्भव है। नायिका के अनिल-पीड़ित लहर-सी झट चौंककर जग पड़ने के लिए अपरिचित साँस ही उत्तरदायी है, परिचित साँस से इतना घबराने की जरूरत न थी।

पिछले अध्याय में हम धर्म के लिए धर्मी के प्रयोग की चर्चा कर आये हैं।

धर्मी के लिए यहाँ हम धर्मी के लिए धर्म के प्रयोग का उल्लेख करेंगे।
धर्म का प्रयोग इस प्रकार के प्रयोग मूर्त के सूक्ष्म-विधान के ही अंग हैं।
दोनों में नाम-मात्र की भिन्नता है। कभी-कभी तो दोनों एक ही होते हैं।

‘किये गीली पलकों में बन्द
लजीली आँखों का अनुरोध;
प्रणय के चरणों पर चपचाप
चढ़ा मैं देता शीश अबोध।’

—द्विज

प्रणयी कहने से केवल एक धर्म-विशेष को अंगीकृत करनेवाले का बोध होता है, पर ‘प्रणय’-पद से ऐसा मालूम होता है कि उसके सिर से पाँव तक प्रणय-ही-प्रणय भरा हो। प्रणय और प्रणयी में इस प्रकार कितना अन्तर पड़ जाता है ! अपराधी कहने से ऐसा मालूम होता है कि किसी ने कोई अपराध

किया हो, पर उसे यदि अपराधी न कहकर काव्यचातुर्य से अपराध की मूर्त्ति ही कहा जाय, तो उसमें कितने भावों की समष्टि मिलेगी ! यहाँ कवि ने धर्मी—प्रणयी—के बदले धर्म—प्रणय—का प्रयोग इसी चतुरता के साथ किया है ।

‘न होगी कुछ भी अनुचित उक्ति,
कहूँ जो मैं करके कुछ गर्व ।
जगत के धन, बल, यश, सौन्दर्य
पधारे हुए वहाँ थे सर्व ।’

—राय देवीप्रसाद ‘पूर्ण’

यह पिछले दिल्ली-दरबार के सम्बन्ध की उक्ति है । उसमें देश-विदेश के धनी, बली, यशस्वी तथा सुन्दर पुरुष पधारे थे । कवि ने अपनी उक्ति को विशेष व्यापक तथा गम्भीर बनाने के विचार से धर्मियों को छोड़कर केवल धर्म—धन, बल, यश तथा सौन्दर्य के प्रयोग किये हैं । सन्देह नहीं कि कवि की आशा फलवती हुई है ।



आठवाँ अध्याय

अभिव्यंजना की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ

भाषा में प्रायः वाचक और धर्म लुप्त रहते हैं। पूर्णोपमालंकार में वाचक और धर्म को मिटाकर उपमेय पर ही उपमान का आरोप करने से वह रूपक (Metaphor) हो जाता है। अतः, रूपक एक प्रकार की उपमा ही है।

इस प्रकार की उपमा से शब्दों के नये अर्थ निकलते हैं।

विशेषण-विपर्यय का मूल सुराही का गला, पहाड़ की चोटी, खाट का पीवा आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। जब शब्द घटते हैं, तब उपमा का आश्रय

लेना पड़ता है, किन्तु ऐसी उपमाओं के सभी लक्षण गौण

रहते हैं और केवल विशेषणों से ही उनके अस्तित्व का आभास मिलता है।

ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त जो अनुभूतियाँ हैं, उनके ही द्वारा दूसरे शब्दों का अर्थ-ग्रहण किया जाता है। कड़वी बात, गन्दी आदत, सुन्दर स्वाद आदि प्रयोग

इसी तरह के हैं। यह प्रवृत्ति तो बहुत पुरानी है, पर आधुनिक काव्य में भी

इसका प्रवेश बहुत दूर तक हो गया है। कहना नहीं होगा, इस प्रकार इसका

दूर तक चला जाना लक्षणावृत्ति के सिवा दूसरे सूत्र से सम्भव नहीं है। किसी

कथन को विशेष अर्थ-गर्भित तथा गम्भीर करने के विचार

उदाहरण से विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है। अभिधावृत्ति

से विशेषण की जहाँ जगह है, वहाँ से हटाकर लक्षणा के

सहारे उसे दूसरी जगह बैठा देने से काव्य का सौष्ठव कभी-कभी बहुत बढ़

जाता है ! भावाधिक्य की व्यंजना के लिए विशेषण-विपर्यय अलंकार का

व्यवहार बहुत सुन्दर है। जैसे—

‘भीख की भूखी शोली छीन,

मान सच, कुछ भी पायेगी न।

छान सूने मसान की खाक,

हाथ कोई निधि आयेगी न।’

—द्विज

लक्षणा से यहाँ भूखी शोली का अर्थ खाली शोली समझ में आ जाता है; क्योंकि पेट खाली रहने पर ही भूख लगती है। किन्तु, इसके भीतर एक

विशेष्य छिपा हुआ है, जो भिखारी की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। भूखा है वास्तव में यह भिखारी ही, पर व्यंजना की गई है भूखी शोली की। ऐसा करने में काव्य-चमत्कार आ गया है। प्रभाव की क्षमता बढ़ गई है।

‘अकेली आकुलता-सी प्राण !
कहीं तब करती मृदु आघात;
सिहर उठता कृश-गात;
ठहर जाते हैं पद अज्ञात।’

— पन्त

इसमें कवि ने अकेलेपन की आकुलता के लिए अकेली आकुलता का व्यवहार किया है।

‘किस विनोद की तृपित गोद में
आज पोंछती वे दृग-नीर
× × ×
आज निद्रित अतीत में बन्द
ताल वह, गति वह, लय वह छन्द
× × ×
चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दा-धाम ?

—निराला

उपर्युक्त पंक्तियों में गोद के साथ तृपित, अतीत के साथ निद्रित तथा पनघट के साथ व्याकुल विशेषणों के प्रयोग किये गये हैं। गोद स्वयं तृपित नहीं हो सकती, किसी तृपित व्यक्ति की गोद ही इसका तात्पर्य है। पर कवि ने यहाँ केवल विशेषण का विपर्यय ही नहीं किया है; वरन् अमूर्त को मूर्त बनाने की प्रवृत्ति के अनुसार, जिसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं, विनोद को गोद के सम्बन्ध से मूर्त बना दिया गया है। निद्रित कोई जीव ही हो सकता है, परन्तु अतीत को निद्रित बनाकर अर्थ में विशेषता लाई गई है। पनघट स्वयं किसी के लिए व्याकुल नहीं हो सकता, हृदय के अभाव में उसे यह क्षमता ही नहीं, लेकिन लक्षण-लक्षणा के अनुसार पनघट पर आने-जानेवाली गोपिकाओं का भाव लेकर कवि ने काव्य की मार्मिकता को बहुत बढ़ा दिया है।

इसी तरह की एक और प्रवृत्ति आजकल लक्षित हो रही है, जिसमें मनुष्य की विशेषता या भावना का आरोप विशेषण बनाकर, उसके किसी एक अंग पर ही, कर दिया जाता है। इससे काव्य में विशेषता यह अंग में भावपूर्ण आती है कि मनुष्य के जिस किसी अंग से प्रयोजन रहता है, विशेषण उसी को प्रधानता मिलती है और अर्थ की स्पष्टता के लिए अंग से अंगी का बोध हो ही जाता है।

‘तेरे क्रन्दन तक में सुगान,
सुनते हैं जग के कुटिल कान;
लेने में ऐसा रस महान
हम चतुर करें किस भाँति चक
ओ कोइल, कह, यह कौन कूक?’

—मैथिलीशरण गुप्त

इसमें ‘जग के कुटिल कान’ से जग के कुटिल मनुष्यों के कानों का ही बोध होता है।

‘देखते कहीं सहसा जो
मोहक सौन्दर्य किसी का
लालची लोचनों के तो
मंहु में पानी भर आता !’

—विश्वनाथ प्रसाद

इसमें लालची व्यक्ति के लोचनों के लिए उसके लोचनों को ही लालची बना दिया गया है। जिस अंग से जिस भाव का बोध स्पष्ट हो सके, उसमें ही उसके आरोप से अर्थ की गम्भीरता बढ़ जाती है।

‘वेदना के ही सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व इसका परम पद
वेदना का ही मनोहर रूप है
वेदना का ही स्वतन्त्र विनोद है।’

—पन्त

‘वेदना के ही सुरीले हाथ से’ अमूर्त के मूर्त का बोध होता है, किन्तु ‘सुरीले’ हाथ का प्रयोग कर कवि ने अपनी मार्मिक अन्तर्दृष्टि का परिचय

दिया है। साधारणतः, हाथ के साथ सुरीलेपन का कोई सम्बन्ध नहीं, पर काव्य में सुन्दर प्रयोग के कारण 'सुरीले हाथ' में आलंकारिक प्रभाव की क्षमता आ गई है। सुरीली आवाज को सुनकर हृदय में जैसा आह्लाद होता है, वैसा ही भाव उसके हाथ की कृति को देखकर हृदय में होता है। इसी कारण केवल प्रभावसाम्य पर दृष्टि रखते हुए कवि ने 'सुरीले हाथ' का प्रयोग किया है।

‘यह संग्रह किस लिए ? हाय,
इस जग में क्या अक्षय है !
अपने क्रूर करों से छूटा
सबको यहाँ प्रलय है ।’

—दिनकर

यहाँ प्रलय को मूर्तिमान बनाकर कर-निर्देश किया गया है। ‘क्रूर’ का सम्बन्ध सीधे प्रलय से न रखकर ‘कर’ के साथ कर दिया गया है। मनुष्य जो कुछ अकाण्ड ताण्डव करता है, वह प्रायः हाथों से ही। मूर्तिमान प्रलय भी अपने करों से ही किसी को छूयेगा। उसका छूना बड़ा क्रूरतापूर्ण व्यापार है। अतः, इस व्यापार में जो अंग प्रधान साधन है, उसी के साथ ‘क्रूर’ विशेषण को मिलाना युक्तियुक्त है।

कभी-कभी मूर्त-विधान की प्रवृत्ति से काव्य में अंग को अंगी बना दिया जाता है। यह प्रवृत्ति किस प्रकार गद्य में भी चल पड़ी है, इस बात की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। मानव-शरीर का जो एक अंग से अंगी अंग-मात्र है, उसके साथ भी किसी दूसरे अंग का सम्बन्ध का बोध जोड़ दिया जाता है। यह बहुधा उस अंग की प्रवृत्ति तथा बागधारा पर विचार रखकर किया जाता है। ‘लालची लोचनों के तो मुँह में पानी भर आता’-जैसा प्रयोग इन दोनों बातों पर ध्यान रखकर किया गया है। लोचनों में मुँह जोड़ने से अपने भाव को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की क्षमता आ गई है।

‘छिपकर आप अपने के बीच निस्सहाय
सिकुड़ सिमट गई त्वचा हाय !
कमर ने सिर-सा झुका दिया,
हाय ! वृद्ध, आके तुम्हें लूट किसने लिया ?’

—सियारामशरण गुप्त

ऊपर की पंक्ति—कमर ने सिर-सा झुका दिया—में 'सा' के योग से कमर में अंगी की विशेष योग्यता न आ सकी; क्योंकि कमर ने वस्तुतः अपना सिर नहीं झुकाया, बल्कि सिर-सा झुका दिया। इसीसे मिलता-जुलता एक और ढंग है, जिसमें केवल कल्पना के सहारे ही अंगों का निर्णय किया जाता है। वस्तुतः, उस वस्तु में वह अंग होता है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, पर उसकी अभिव्यंजना कर दी जाती है। जैसे—

'अद्भुत है तेरा व्यवहार
नाविक ! देखो, कल्लोलित सागर के पश्चिम तट पर
खड़े हुए हैं भानु विदा के लिए नयन नीचे कर
वे हैं जाने को तैयार ।'

—वियोगी

कल्लोलित सागर के पश्चिम-तट पर भानु को नयन नीचे कर विदा के लिए खड़ा करना उत्प्रेक्षा-मात्र है; किन्तु इस प्रकार के वर्णन भी काव्य की मार्मिकता तथा अर्थ-व्यंजना को बढ़ाते हैं।

अब हम अभिव्यंजना की उन भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का उल्लेख करेंगे, जो प्रायः कम मिलती हैं, और जिनसे काव्य में अबतक किसी भिन्न-भिन्न प्रवाह का उद्गम नहीं हुआ है। ऐसी प्रवृत्तियों के निदर्शन प्रवृत्तियाँ के लिए कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की रचनाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं। उनकी रचनाओं में अँगरेजी लाक्षणिकता तो बहुत-कुछ मिलती ही है, स्थान-स्थान पर मौलिक उद्भावनाएँ भी हैं।

'विपुल कुंजों की सघनता में छिपी
ऊँघती है नींद-सी मेरी स्पृहा'

—पन्त

लोग नींद के कारण ऊँघते हैं, स्पृहा नींद से ऊँघ सकती है, पर भावाधिक्य के कारण 'नींद से' न लिखकर 'नींद-सी ऊँघना' लिखा गया है।

'संकुचित थी प्रात जो नव क्यारियाँ
दुपहरी की, वे अरुण की ज्योति में
फलने अब हैं लगीं, उन्मत्त कर
लोचनों को निज सुरा-सी कान्ति से ।'

—पन्त

लोचनों को सुरा पीने की क्षमता नहीं, सुरा देखकर मादकता आती नहीं। फिर 'सुरा-सी कान्ति' से कवि ने लोचनों का सम्बन्ध जोड़ ही दिया। कान्ति एक दृश्य-गुण है और सुरा पीकर ही उन्मत्तता आती है, किन्तु कवि ने इस पर विचार न कर बड़ी चतुरता से दोनों को मिला दिया है।

‘तुम शैशव-स्मिति-सी सुकुमार;
मर्म-रहित, पर मधुर अपार,
खिल पड़ती हो बिना विचार।’

—पन्त

इसमें स्मिति दृश्य-गुण और सुकुमारता स्पृश्य-गुण है। पर कवि ने स्मिति सुकुमार बनाकर अपने हृदय की सुकुमारता का परिचय दिया है।

‘चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की स्मिति सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो पालें बँधी, खुला लंगर।’

—पन्त

चाँदनी रात की ज्योत्स्ना में सिकता मोती की उज्ज्वलता की तरह चमक रही है। कवि मोती की उज्ज्वलता तथा ज्योत्स्ना, दोनों के साम्य का कायल है, लेकिन समता में एकात्मता नहीं रहती, और कवि इसी का इच्छुक है। इसी कारण उसने मोती की तरह न लिखकर मोती की ही ज्योत्स्ना लिखी है। यह कवि की भावुकता है।



नवाँ अध्याय

उपसंहार

पिछले कई अध्यायों में हम काव्य के सिद्धान्तों तथा नवीन प्रवृत्तियों की चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हम हिन्दी-भाषा की लाक्षणिक विशेषता दिखलाते हुए काव्य की वर्तमान प्रगति के सम्बन्ध में कुछ कहने की चेष्टा करेंगे। यों कहा जाता है कि अँगरेजी भाषा में बड़ी लाक्षणिक चपलता है; हम इस बात को निस्सन्देह स्वीकृत करते हैं, किन्तु साथ ही हिन्दी-हिन्दी की लाक्षणिक भाषा की भी अपनी इस विशेषता को भूल नहीं सकते।

विशेषता उदाहरण के लिए कुछ वाक्य लीजिए—वह ध्यान में मग्न हो गया; तुम उसका पार नहीं पाओगे; उसने मेरी बात काट दी। अब क्रियापदों के लाक्षणिक अर्थान्तर की विशेषता पर विचार कीजिए। मग्न होने का अर्थ है डूबना, पर ध्यान कोई नदी या तालाब नहीं है, जिसमें लोग डूबा करते हैं। पार पाने का अर्थ है किनारा लगना, पर कोई व्यक्ति नदी या समुद्र नहीं है, जिसका पार पाया जा सके। काटने का अर्थ है तलवार या चाकू से विक्षत करना, पर बात कोई ऐसी स्थूल चीज तो है नहीं, जो किसी हथियार से काटी जा सके। इसी प्रकार दैनिक व्यवहार के ऐसे अनेक प्रयोग दिखलाये जा सकते हैं,

वाच्यार्थ जिनमें लाक्षणिक विशेषता भरी-पड़ी है, लेकिन प्रयोग में
में वे इतने सघ गये हैं कि उनमें किसी को लक्षणा का अस्तित्व
काव्यत्व सहसा लक्षित ही नहीं होता। काव्य का सौन्दर्य लक्षणा से अवश्य बढ़ता है, पर उसका भी वाच्यार्थ ही लेना पड़ता है।

लक्षणा का वाच्यार्थ प्रायः व्याहत तथा वृद्धि को अग्राह्य हुआ करता है, पर अर्थ की इसी अयोग्यता में काव्य का सौन्दर्य छिपा रहता है। साधारणतः वाच्यार्थ के वाधित तथा अनुपपन्न होने पर अन्य शब्द-शक्तियों की सहायता ली जाती है, किन्तु चाहे वह लक्षणा हो या व्यंजना, काव्य की रमणीयता तथा विचित्रता के लिए वाच्यार्थ ही चाहिए। लक्षणा का व्यंजना के स्वरूप में काव्य का सौन्दर्य धृत अवश्य होता है, पर उसमें बढ नहीं हो जाता। आधुनिक

कविताओं में यह विशेषता कुछ-कुछ देखी जाती है। यदि हिन्दी के कविगण इस ओर थोड़ा भी ध्यान दें, तो भाषा के सौन्दर्य की बड़ी वृद्धि हो।

अभिव्यञ्जनावान्द के प्रभाव से जहाँ साहित्य को थोड़ा-बहुत लाभ पहुँचा है, वहाँ उसके कारण कुछ अभाव भी रहता आया है। आधुनिक कवियों का ध्यान मुक्तक रचना की ओर इतना झुका कि उन्हें प्रबन्ध-काव्य लिखने की रुचि ही न जगी। यह सच है कि पिछले कई सौ वर्षों से साहित्य का मुक्तक रचना की परम्परा ही आ रही है। केवल दस-अभाव बीस कवियों ने ही प्रबन्ध-काव्य की ओर ध्यान दिया।

फलतः हिन्दी में अगणित मुक्तक रचनाएँ हुईं। ऐसी कुछ बात नहीं है कि आधुनिक कवियों में प्रबन्ध-कल्पना की योग्यता नहीं है। कुछ दिन पूर्व प्रायः सभी कवि काव्य-रचना से हटकर उपन्यास, कहानी, नाटक की ओर विशेष प्रवृत्त हो गये। यह प्रवृत्ति सामूहिक रूप से साहित्य के लिए अनिष्टकर नहीं मानी जा सकती; किन्तु कविता का क्षेत्र अपेक्षाकृत सूना पड़ता गया। कवियों की यह धारणा कि वे काव्य-रचना के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगोपांग पर भी समान अधिकार रखते हैं, काव्य के विकास में बाधक हो जाती है। रीति-काल में भी कवियों की प्रायः यही धारणा थी। उस समय उपन्यास, कहानी, नाटक आदि की रचना तो साहित्यिक गद्य के विकास के अभाव में सम्भव न थी, पर वे रस, अलंकार तथा नायिका-भेद का विवेचन तो आचार्य बनकर करते थे ! कवि और आचार्य के अलग-अलग क्षेत्र हैं। दोनों में दो ढंग की प्रतिभा रहती है, परन्तु यह अन्तर रीतिवादियों को मान्य न रहा। यही कारण हुआ कि उस समय एक बँधी हुई परिपाटी के भीतर ही उन लोगों ने अपना कौशल दिखलाया। स्वतन्त्र उद्भावनाएँ बहुत कम हुईं। जगत् और जीवन के अन्य पक्ष भी हैं, इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया। प्रत्येक कलाकार में सब-कुछ लिखने की क्षमता प्रायः नहीं रहती। अतएव, साहित्य के सब अंगों पर विरला ही कोई प्रौढ़ रचना प्रस्तुत कर सकता है। किस कलाकार को कौन विषय अपनाना चाहिए, इसका सबसे सन्तोषजनक उत्तर उसकी रुचि और क्षमता ही दे सकती है।

काव्य की व्यञ्जना के प्रधान दो अंग हैं—भाव-व्यञ्जना और रूप-व्यञ्जना। छायावाद या रहस्यवाद की रचनाओं में भाव-व्यञ्जना बहुत दूर तक हो

गई है। भावों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से अनभिज्ञ कवियों ने उसकी मिट्टी पलीद भी की है। मुक्तक रचनाओं में विशेषतः भाव-भाव-व्यंजना व्यंजना पर ही ध्यान दिया जाता है, किन्तु प्रबन्ध-काव्य के और लिए भाव-व्यंजना तथा रूप-व्यंजना, दोनों ही समान रूप से रूप-व्यंजना आवश्यक हैं। आजकल के कवियों की रुचि यदि रूप-व्यंजना की ओर भी हो जाय, तो प्रबन्ध-काव्य की विशेष सम्भावना दिखाई पड़ सकती है। साहित्य का अधिकतर कल्याण तभी सम्भव है। सन्तोष की बात है कि पिछले तीन-चार दशकों में पाँच-छह अच्छे प्रबन्ध-काव्यों की रचना हुई है, जिनमें से मैथिलीशरणजी गुप्त का 'साकेत', प्रसाद की 'कामायनी', अनूप का 'सिद्धार्थ', गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ', दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' और प्रभात की 'ऋतंवरा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-कविता की अभिनव धारा पर रूप-व्यंजना की अपेक्षा भाव-व्यंजना का अधिक प्रभाव है तथा जो कवि नवीनता को आत्मसात् करने में जितना ही समर्थ हुआ है, उसकी रचना रूप-व्यंजना से उतनी ही दूर एवं भाव-व्यंजना के उतनी ही समीप है। इस उक्ति की यथार्थता 'साकेत', साकेत, कामायनी 'कामायनी' और 'कुरुक्षेत्र' पर विचार करने से पूर्णरूप से और स्पष्ट हो जाती है। 'साकेत', 'कामायनी' और 'कुरुक्षेत्र'—कुरुक्षेत्र 'प्रियप्रवास' के बाद खड़ीबोली के तीन सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य माने जा रहे हैं तथा रचना-काल के क्रम से ये ग्रन्थ हिन्दी-काव्य के विगत तीस वर्षों के इतिहास की रेखाओं पर प्रकाश डालते हैं। किन्तु, इन तीनों में से 'साकेत' ही एक ऐसा काव्य है, जिसमें रूप-व्यंजना प्रचुर मात्रा में विद्यमान मिलती है। 'कामायनी' का कथा-सूत्र अत्यन्त सूक्ष्म है। अतएव, उसमें रूप-व्यंजना की मात्रा भी उसी अनुपात में अल्प हो गई है। 'कुरुक्षेत्र' इन दोनों काव्यों के बाद की रचना है। अतएव, उसकी पंक्तियों में भी हम रूप-व्यंजना को अत्यन्त गौण तथा विचारों एवं भावों को ही प्रधान पाते हैं। इसके रचयिता ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में स्वयं ही स्वीकार किया है कि 'कुरुक्षेत्र' में प्रबन्ध की एकता उसके विचारों को लेकर है। किन्तु, विचारों के इस महाकाव्य में भाव-व्यंजना के माध्यम से प्रबन्ध की जिस एकता की सृष्टि की गई है वह सर्वथा श्लाघ्य एवं अभिनन्दनीय है।

यह युग काव्य-रचना के अनुकूल नहीं मालूम पड़ता। प्रवृत्ति पर विचार किया जाय, तो स्पष्टतः यह गद्य का ही युग है। प्रत्येक आन्दोलन की तरह साहित्यिक आन्दोलन भी अधिक दिनों तक नहीं टिकता। साहित्यिक वाद साधारणतः, किसी साहित्यिक वाद या आन्दोलन की आयु को आयु बीस बरस से अधिक नहीं होती। जिस आन्दोलन में परिपाटी बनाने की योग्यता रहती है वह निश्चय ही कुछ अधिक आयुवाला होता है। वस्तुतः काव्य की आयु उसके शाश्वत तत्त्वों के कारण बढ़ती है। जिस साहित्यिक वाद में शाश्वत तत्त्वों का जितना ही अधिक समावेश रहेगा, उसकी आयु उतनी ही अधिक होगी।

आधुनिक कविता के अन्तर्गत नई कविता को स्थान प्राप्त है या नहीं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। विचारणीय यह शायद इसलिए माना जाता है कि आधुनिक कविता में काव्य की परम्परा अविच्छिन्न है, आधुनिक किन्तु नई कविता में परम्परा के पालन का कोई आग्रह या नहीं है या इसे यों भी कहा जा सकता है कि परम्परा को नई कविता विच्छिन्न करने से ही नई कविता को उन्मुक्त वायुमण्डल मिल सकता है। छायावादी या रहस्यवादी धारा की प्रतिक्रिया से जो कविताएँ रची गईं, वे ही मुख्यतः नई कविता की श्रेणी में आती हैं। हम यह जानते हैं कि प्रतिक्रिया से उत्पन्न कोई भी भाव, विचार, वस्तु अपने मूल स्वरूप में स्थायी नहीं होती, शुद्ध भी नहीं होती। प्रतिक्रिया के जोर से जब क्रिया दब जाती है, तब प्रतिक्रिया भी स्वतः नष्ट हो जाती है; क्योंकि प्रतिक्रिया को क्रिया से ही जीवन प्राप्त होता है।

‘अज्ञेय’ ने अपने ‘तार-सप्तक’ में प्रयोगवाद के उदाहरण के रूप में जो कविताएँ संगृहीत की हैं, वे नई कविता की श्रेणी में परिगणित हो सकती हैं, इस विचार से यह स्पष्ट है कि ‘तार-सप्तक’ के प्रकाशन के पूर्व ही नई कविता का जन्म हो चुका है।

छायावाद और रहस्यवाद में तात्त्विक भिन्नता के प्रश्न को लेकर कवियों तथा आलोचकों में जिस प्रकार मतभेद नहीं है, उसी प्रकार प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता की परिभाषाओं में भी विचारों की एकरूपता

नहीं पाई जाती। इसका एक कारण यह भी है कि नई कविता का नेतृत्व संगठित नहीं है। जो कवि जैसा चाहता है, अपनी कविता नई कविता को स्वतन्त्र रूप देता है। नई कविता के नाम पर प्रकाशित होनेवाली या चलनेवाली कविताओं में एक-जैसा मेरुदण्ड नहीं है। सामान्य रूप से कविता के स्वरूप तथा जीवन का जो शाश्वत सत्य है, वह नई कविता में निर्दयतापूर्वक बहिष्कृत है। आज जो कविता नई है वह कल पुरानी भी होगी, इस स्थिति पर विचार से नई कविता के उन्नायकों की दशा भी जरा-जर्जर मानी जायगी— आज नहीं, पर कल अवश्य। छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद के उन्नायक अब साहित्यिक इतिहास में गत युग की सामग्री बन गये हैं।

नई चेतना के जगते ही युग का परिवर्तन होने लगता है। उस समय प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों के पोषण के लिए युग का नेतृत्व करते हैं। आत्म-विश्वास की दृढ़ता तथा अन्धकार में ज्योति प्रसारित करने की क्षमता जिसमें जैसी रहती है, वह अपने युग का साहित्यिक वाद वैसा ही कलाकार नेता बनता है। साधारणतः, ऐसे कलाकार और गति नेता युग की प्रवृत्तियों को एक सीमा में बाँधकर साहित्यिक वाद का प्रवर्तन करते हैं। इसकी एक बड़ी उपयोगिता यह है कि इससे गति में तीव्रता उत्पन्न होती है। पर, सदैव गतिशीलता ही हमारा लक्ष्य-बिन्दु नहीं होना चाहिए। तेज चलनेवाले को अन्ततः इस बात पर ध्यान रखना ही पड़ता है कि वह जा कहाँ रहा है ! यदि गन्तव्य अज्ञात है, तो गति का कोई अर्थ नहीं। अर्थ निकालने की चेष्टा की भी जाय, तो वह विनाश की ओर ही ले जाता मालूम पड़ेगा। कारण स्पष्ट है। हम दिन का काम घण्टे में, और घण्टे का काम मिनट में करने के अभ्यासी हो रहे हैं। बड़े-बड़े प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा हम छोटी-छोटी मुक्तक कविताओं से रसास्वादन तथा मनोरंजन करना चाहते हैं। लम्बे उपन्यासों के बदले छोटी-छोटी कहानियों से अपना जी भरना चाहते हैं। यह सब ठीक है, लेकिन गति की तीव्रता का यह अर्थ कदापि नहीं होना चाहिए कि हमें क्षण-भर भी कहीं स्थिर होने का मौका नहीं मिले। फूल के पौधे की बाढ़ ऐसी नहीं होनी चाहिए कि उसमें खिले हुए फूलों की पंखुड़ियाँ अपना सौन्दर्य और सुगन्ध

विखेरने के पहले ही झड़कर भूमिसात् हो जायें। अशेष प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किसी महाकाव्य की रचना नहीं की, अपनी प्रतिभा का प्रसाद गीतों के रूप में ही बाँधा, पर उन गीतों में उन्होंने हृदय को, मन-प्राण को रमने के लिए उचित अवसर दिया। अपनी वृत्तियों के पोषण के लिए हृदय को स्थिरता चाहिए। ज़ल्दी का काम शैतान का, इसी कारण मशहूर है। रेलगाड़ी की तेज रफ्तार तो तभी उचित मानी जा सकती है, जब वह किसी स्टेशन पर यात्रियों को चढ़ने-उतरने के लिए ठहर कर सुविधा दे। आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों में परिवर्तन की गति इतनी तीव्र है कि वह सहज ही क्रान्ति का नाम धारण कर सकती है। रहस्यवाद तथा छायावाद के जाते-जाते प्रगतिवाद आया, और प्रगतिवाद को धक्का देकर प्रयोगवाद सामने आ धमका। कहना नहीं होगा, प्रयोगवाद का विवेचन-विश्लेषण करते-करते वह भी हमारे सामने से चल निकलेगा और उसकी जगह पर कोई नया साहित्यिक वाद उपस्थित हो जायगा। मुझे ऐसा लगता है कि नई कविता प्रयोगवाद के अस्तित्व पर आसीन हो गई है।

आजकल के अधिकांश प्रयोगवादी कवि हृदय की अंगक्षा मस्तिष्क से ही कविता रचते हैं। साहित्य-शास्त्र द्वारा अनुमोदित नवरस के अन्तर्गत उनकी कविताएँ नहीं आतीं, अजाने कहीं कुछ पंक्तियों की योजना में रस की बूँदें मिल भी जायें, तो वे उन्हें शास्त्रानुमोदितरस-निष्पत्ति प्रयोगवाद और की परम्परा से बद्ध करना पसन्द नहीं करते; क्योंकि इससे रूढ़ि उन्हें परम्परावादी बन जाना पड़ेगा। कविता के लिए रस जरूरी है, तो वे बुद्धि-रस की कल्पना सहज में ही कर सकते हैं। स्वयं 'अज्ञेय' ने सिद्धान्त-रूप से यह स्वीकार किया है कि रूढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए बांछनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है। सिद्धान्त-रूप से जिस तथ्य को नये कवि स्वीकार करते हैं, प्रयोग रूप में उसका बहिष्कार ही किया जाता है। रूढ़ि स्वयं कोई बुरी चीज नहीं है, रूढ़िवादिता भले ही बुरी हो। रूढ़ि के बिना हमारा जीवन-संचालन ही सम्भव नहीं है; हमारे सब भाव, विचार, क्रियाएँ किसी-न-किसी प्रकार की रूढ़ि पर अवलम्बित हैं। काव्य-रचना स्वतः रूढ़ि है। रूढ़ि उसी समय बुरी मानी जाती है और बुरी मानी जानी चाहिए,

जब वह विकास का मार्ग अवरुद्ध करे। वृक्ष में आवेष्टित त्वचा या छाल उसकी रूढ़ि है, पर वृक्ष की छाल वृक्ष के विकास में कोई बाधा नहीं देती; वरन् उसके विकास में, धड़ को संरक्षित कर, सहायता ही पहुँचाती है। ज्यों-ज्यों वृक्ष विकसित होकर मोटा होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी छाल अवकाश देकर विकसित होती चलती है। जहाँ छाल ने विकास को रोकने की चेष्टा की, वहाँ छाल को ही जीर्ण-शीर्ण होकर वृक्ष से अलग हो जाना पड़ता है। छाल से वृक्ष को जिस प्रकार पोषण मिलता है, उसी प्रकार रूढ़ि या परम्परा से कविता को जीवन मिलता है। परम्परा से खण्डित कविता, वृक्ष की खण्डित शाखा की तरह, नीरस और शुष्क हो जाती है। नये कवियों में उत्साह की कमी नहीं है। उत्साह में बड़ी शक्ति होती है। इस उत्साह से साहित्य को लाभ उठाना ही चाहिए। सिद्धान्त-रूप से रूढ़ि या परम्परा के साथ वे जो सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, व्यवहार-रूप में भी यदि वे उसका पालन करें, तो प्रयोगवादी या नई कविता से हिन्दी-साहित्य विशेष रूप से समृद्ध होगा, इसमें सन्देह या द्विधा की कोई बात नहीं।

जो सिद्धान्त बहुजनानुमोदित होता है, उसे काव्य का विषय बनाने में सुविधा होती है। भाव की बाधा दूर करने के लिए यदि तर्क का सहारा लिया जाय तो यह उचित ही है, पर तर्क के सहारे किसी कविता सिद्धान्त को, कविता के माध्यम से गले नहीं उतारा जा सकता। कविता में यह क्षमता भी नहीं होती। जो कवि क्षमता-सापेक्षता क्षमता से अधिक कविता से काम लेने का प्रयत्न करते हैं उनकी असफलता पहले से सिद्ध रहती है। नये सिद्धान्त या तथ्य को कविता के माध्यम से सर्वजनप्रिय बनाना बड़ा कठिन है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि कविता का यह व्यवसाय ही नहीं है। धर्म, संस्कृति, दर्शन के समन्वित प्रभाव से जीवन का जो रूप गठित होता है उसको सहसा खण्डित करना सम्भव नहीं है, उचित भी नहीं है। काव्य में इससे रस-भंग या रसाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

जीवन में वस्तुतः नया कुछ नहीं है, जो कुछ है वह सनातन है। उसे नये रूप में, नई अभिव्यंजना-शैली में प्रस्तुत करना ही नवीनता है।

नया या पुराना, अच्छा या बुरा, ये बातें बहुधा भ्रम में डालनेवाली हो जाती हैं। कोई वस्तु नई है या पुरानी, यह काल-कविता में काल धर्म है। पर कोई वस्तु अच्छी है या बुरी, यह उसका तथा गुण-धर्म गुण-धर्म है। नई कविता, नई होने के कारण ही, अच्छी नहीं मानी जा सकती; और पुरानी कविता, पुरानी होने के कारण ही बुरी नहीं हो जाती। गुण-दोष नया-पुराना होने पर निर्भर नहीं करता। सब पुरानी कविताओं को समाधिस्थ कर, नई कविता की बात करना, बिना स्तम्भ के ही ध्वजा फहराना है।

प्रत्येक जाति अपनी सभ्यता, संस्कृति, विद्या-बुद्धि, भावना-कल्पना आदि के आधार पर प्रतीक निर्माण करती है। कुछ प्रतीक धार्मिक क्षेत्र में रहते हैं और कुछ साहित्य क्षेत्र में व्यवहृत होते हैं। दोनों प्रकार के प्रतीकों में आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का योग आवश्यक है। नई कविता में कुछ ऐसे प्रतीकों की उद्भावना कर ली गई है, जो हृदय में आनन्द, उल्लास के बदले विराग या घृणा ही उत्पन्न करते हैं। समाज-नई कविता रचना की प्रकृति पर ध्यान दिये बिना प्रतीकवाद का विकास सम्भव नहीं है। बहुत-से प्रतीक ऐसे भी होते हैं, प्रतीक जो सामाजिक परम्परा से सम्बन्ध न रखकर वैयक्तिक होते हैं और उनका बोध समस्त कविता की मूल प्रेरणा से होता है। नई कविता में ऐसे प्रयोग किये गये हैं, किन्तु सफलता बिल्कुल नहीं मिल सकी है। विजली का बटन दबाते ही अन्धकार के वातावरण में प्रकाश की जो उज्ज्वलता चमक उठती है उसकी बराबरी वह आग नहीं कर सकती, जो मुँह से फूँक-फूँककर जलाने पर भी धुएँ में भरी रहती है।

परम्परागत प्रतीकों में आकाश, कमल, चन्द्र, हंस, समुद्र आदि को छोड़कर गधा, ऊँट, छिपकिली, कीचड़, मेढ़क आदि को प्रयुक्त करने की जो चेष्टा की गई है, वह नये कवियों के सौन्दर्य-बोध का स्पष्ट प्रमाण है। इसकी मूल भावना का सम्बन्ध प्रगतिवाद के उस प्रयत्न के साथ मिलाया जा सकता है, जहाँ राजा के बदले भिखारी को साहित्य में महत्त्व का स्थान दिया गया है। जहाँ तक युगधर्म का प्रश्न है, समय-समय पर वस्तु-विशेष, विचार-विशेष को महानता मिली है। आधुनिक कविता या नई कविता में

परम्परा के प्रति कितना ही विद्रोह क्यों न व्यक्त किया गया हो, इसमें नये युग का प्रेरक सन्देश भी है। काव्य या साहित्य को इससे कुछ नई चेतना मिली है, कुछ अच्छे प्रयोग भी किये गये हैं। इस लाभ को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। खेद की बात इतनी ही है कि अच्छे-से-अच्छे प्रतिभासम्पन्न नये कवियों की शक्ति का जितना अपव्यय होता है, वह राष्ट्र तथा साहित्य की शक्ति का अपव्यय है। यदि यह बच पाता, तो ठीक होता। यों अब वह दिन बहुत दूर नहीं है, जब आधुनिक कविता या नई कविता का उत्तराधिकारी युग सामने आ धमकेगा।



शब्दानुक्रमणी

अ

अँगरेजी भाषा : १२४

अंगांगिमाव-संकर : ९३

अग्निपुराण : २

अज : ७३

‘अज्ञेय’ : १४५

अतिशयोक्ति : १२, ८९, १११

अतीन्द्रिय ज्ञानवाद : २८६

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि : १७,
१०६

अनन्वय : १२

अनुभाव : ३, ५

अनुभूतिवाद : ३८

अनुमितिवाद : ६

अनूप : १४४

अन्योक्ति : ९८, १२१

अपह्नूति : १२

अप्यय दीक्षित : ९४

अप्रस्तुत अलंकार : ९८

अप्रस्तुत प्रशंसा : १३, ९८

अप्रस्तुत योजना : १००, १०१, १०२,

१०३, १०४, १०५,

१०६, १०७, १०८,

११०, १११, ११४,

११५, १२०, १२१,

१२२

अप्रस्तुत रूप-योजना : १०५

अप्रस्तुत-विधान : १३१

अभिज्ञान शाकुन्तलम् : ३२, ४५,
७३६, ८६, ११४

अभिधामूला ध्वनि : १७

अभिनवगुप्त पादाचार्य : ६, ७, १६

अभिव्यंजनावद : १, २३, २६, ३४,
३६, ५७, ५८, ५९,

६०, ६१, ६३, ९९,

१०१, ११२, ११९,

१४३

अभिव्यक्तिवाद : ६, ७

अमूर्त-विधान : १३१

अरिस्टॉटल : २७

अर्जुन : ७५, ७६

अर्जुनदास केडिया, सेठ : ९६६

अर्थ-वक्रोक्ति : ९५

अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि : १७, १०६

अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि : १७,
२०

अर्थापत्ति : ९२

अर्थालंकार : १०, ९३, ९५

अलंकार : १०, ११, १२, १३, १५,
१६, १७, १९, २०, २१,

२५, २८, ९०, ९२, ९५,

९६, ९७, ९९

अलंकारवाद : १२, १३, ८८

अलंकारशास्त्र : १३, १९

'अलंकार-सर्वस्व' : २

अलंकारसार-संग्रह : २

अलंकार-सूत्र : २

अविवक्षित वाच्य-ध्वनि : १७

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य : १७, २१

आ

आकृति-विधान : ५७

'आक्षेप' : ९८

ऑक्सफोर्ड : ५०

'ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री' :
५० टि०आनन्दवर्द्धन/आनन्दवर्द्धनाचार्य : २,
५, ११, १४, १५, १६, २१

'आर्ट' : ५०

इ

इटली : ३६ टि०

'इण्टरप्रिडेशन ऑफ ड्रीम्स' : ३७ टि०

'इण्टेलेक्चुअल काउण्टर्स' : ४०

इन्द्रियबोध : ४१, ४२, ४३

उ

उक्ति-वैचित्र्य : ५७, ८३

उत्तरकाण्ड : ११५

'उत्तररामचरित' : ५०, ७३ टि०, ८६

उत्पत्तिवाद : ६

उत्प्रेक्षा : १२

उद्दीपन-विभाव : ८५

उद्भट : २, ५, ११, १२, १३, १४

'उद्भ्रान्त प्रेम' : १२०

उपमा : १२

उपमान : ११७, ११९, १२१, १२२,

१२३

उपमेयोपमा : १२

उपयोगितावाद : ६४

उपादान-लक्षणा : १७

उभयशक्त्युद्भव-ध्वनि : १७

उभयालंकार : ९३

ऋ

'ऋतं वरा' : १४४

ए

एकवाचकानुप्रवेश संकर : ९३

एडिसन : ५९, ६९

एल० स्टीफेन, सर : ४१ टि०

'एसेज', बुक २ : २६ टि०

'एस्थेटिक्स' : २६ टि०, ३४ टि०,
३५ टि०, ४२ टि०

ऐ

ऐतिहासिक वर्तमान : ९५

ऐतिह्य (अलंकार) : ९२

ओ

ओथेलो : ७८, ७९, ७९ टि०, ८०,
८१, ८२

क

कण्व ऋषि : ३२, ४६

'कला कला के लिए' : ४८, ५०,
११० टि०

कलावाद : ५१

कला-सम्प्रदाय : ४८

कल्पवृक्ष : ११९

कवि-व्यापार : १८

कविशक्ति-व्युत्पत्ति-परिपाक-प्रांठ : २१

‘कवि-समय’ : १२३

कवीन्द्र रवीन्द्र : ६४, ६५

कश्यपीर : १४

काकु : १०, ९३

काकु-वक्रोक्ति : ९३

‘कादम्बरी’ : ६४

कामदेव : ४७

‘कामायनी’ : १४४

कालिदास, महाकवि : ४७, ४८, ५०,

५९, ६५, ६९,

७३टि०, ८६,

१०८, ११४

‘काव्य-प्रकाश’ : २

‘काव्य-मीमांसा’ : २

‘काव्य में रहस्यवाद’ : ५७टि०, ६०टि०

काव्यलिङ्ग : ११, ८९

काव्य-व्यापार : १८

काव्यादर्श : २

काव्यानुभूति : ५१, ६७, ६८, ८५

काव्यानुमिति : २१

काव्याभास : ४१

काव्यार्थापत्ति : ८९, ९३

काव्यालंकार : २

कुन्तक : २, १०, ११, १९, २०, २१

‘कुमारसम्भवम्’ : ७३ टि०

कुम्भकर्ण : ७०

‘कुरुक्षेत्र’ : १४४

‘कुवलयानन्द’ : ९४

कृष्ण : ६५, ६८, ७६

‘कैरव,’ पं० बुद्धिनाथ झा : ११३,

१२९

क्रोचे : २६, ३०, ३४, ३६, ३८, ५९,

६०, ६९, ८९, ९०

कौरव : ४६, ५५, ६९, ७५, ७६

कौरव-सभा : ७६

दलाइववेल : ५०टि०

ग

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री : ५८

‘गीता-रहस्य’ : २९टि०, ६२टि०

गुरुभवत सिंह ‘भक्त’ : १४४

गूढोक्ति : ९५

गोचर-विधान : १२९, १३१

गौड़ : १४

‘ग्रन्थि’ : १३२

च

चन्द्रालोक : २, ९२, ९४

चमत्कारवाद : ७२

चित्रकूट : ९५

छ

‘छाया’ : १०२

छायावाद : १४३, १४५, १४६, १४७

ज

जगन्नाथ, पण्डितराज : ७, ९

जयदेव : २, ९२, ९४

जयशंकर प्रसाद : १०५

जर्मन-युद्ध : ५४

‘जायसी-ग्रन्थावली’ : ५८

जॉर्ज सण्ट्याना : ८५

जास्ट्रो : ३८टि०

जीमूतवाहन : ८४

‘जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त’ :

८७टि०

‘जुही की कली’ : १०१

ठ

ठाकुर : ९२

ड

डण्टन (टी० डब्ल्यू० डण्टन) : ६३, ८४

डेकार्टे : २७, २८

डेस्डिमोना : ७८, ७९, ८०, ८१

त

‘तलवार’ : ११३

‘तार-सप्तक’ : १४५

तिल-तन्दुल-न्याय : ९३

तुलसीकृत रामायण : ७४

तुलसीदास, गोस्वामी : ४०, ६५,

१०७, ११०,

१११, ११५

तुल्ययोगिता : १२

त्रिगुणात्मिका प्रकृति : ७

द

दण्ड-पूषिका-न्याय : ९३

दण्डी, आचार्य : २, ४, ५, ८, ९, १०,

११, १३, १४

‘दशरूपक’ : २

दशार्ण प्रान्त : १०९

दिनकर, डॉ० रामधारी सिंह : १३१,

१३२, १३९, १४४

‘दी इण्ट्रयूटिव बेसिस ऑफ नॉलेज’ :

३८ टि०

दीपक : १२

‘दो पोएटिक माइण्ड’ : २७ टि०, ९९ टि०

‘दो वर्ल्ड ऑफ ड्रोम्स’ : ३७

‘दो सबकन्स’ : ३८ टि०

‘दी सेन्स ऑफ व्यूटी’ : ८५ टि०

दुःशासन : ७५, ७६

दुर्गा : ४०

दुर्योधन : ७०, ७६

दुष्यन्त, राजा : ४६, ५२, ७३, ७४,

८६, ११४

दृष्टान्त : १३

‘द्विज,’ पं० जनार्दन झा : १२७, १२८,

१३४, १३६

‘द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ’ : ३६ टि०,

६७ टि०, ८४ टि०

द्रौपदी : ७५, ७६

घ

घनंजय : २

घर्मराज : ११३

ध्वनि : ५, ६, १५, १७, २०, २१, २५

ध्वनिकार : ५, १४, १५, १६, २१

ध्वनिवाद : १८

ध्वनि-सम्प्रदाय : १५, १६, २०

ध्वनि-सिद्धान्त : १५, १८

‘ध्वन्यालोक’ : २, १५, २१, ९८

ध्वन्यालोककार : ९८

न

नई कविता : १४५, १४६, १४९, १५०

‘नक्षत्र’ : १०२

नन्दकेश्वर : २

‘नागानन्द’ (नाटक) : ८४

नाट्यशास्त्र : १, २, ३, ४, ११

निदर्शना : १३

निराला, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी :

१०१, ११३, १३७

नीतिशास्त्र : १११
नीर-क्षीर-न्याय : ९३
नीरो, सम्राट् : ७१, ७२
'नूरजहाँ' : १४४
नृसिंहाकार न्याय : ९३
नैषध महाकाव्य : ६४
न्याय/न्यायशास्त्र : २५, ९२
प
पण्डितराज जगन्नाथ : २, ७
पदभंग-श्लेष-चक्रोक्ति : ९३
'परिणाम' : १३
परिसंख्या : ८९
पर्याय : ८९, ९८
पांचाल : १४
पाणिनि : ६२
पाण्डव : ७५, ७६
पिहित-अलंकार : ९३, ९४
पूर्णोपमा अलंकार : १३६
'पैराडाइज लॉस्ट' : ७०, ७१टि०, ७७
प्रगतिवाद : १४५, १४६, १४७, १४९
प्रतिवस्तूपमा : १३
प्रतिषेध : ८९
प्रतीक : ११७, ११८, ११९, १२१,
१२२, १२३, १४९
प्रतीकवाद : १२५, १४९
प्रतीप : १२
प्रत्यक्षीकरण : २५टि०, १२६, १२९
प्रत्यनीक : ८९
'प्रभात,' पं० केदारनाथ मिश्र : १४४
प्रभाववादी समीक्षा : ६३
प्रमाणालंकार : ९२

प्रयोगवाद : १४५, १४७
प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा : १७
प्रसाद, जयशंकर : १०५, ११५, १२०,
१२७, १४४
प्रस्तुत-विधान : १०८
प्रस्तुतांकुर : ९८
ग्रहपण : ८९, ९२
'ग्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी
क्रिटिसिज्म' : ५१टि०
'प्रियप्रवास' : १४४
प्रेमचन्द : १२६
प्रेयस : ५
प्रेषणीयता : ९७
प्रेतकाँट : २७टि०, ९९टि०
फ
फारस : ११८
फ्रायड (Freud) : ३७टि०
फ्रेंच-साहित्य : ४८
व
वर्कले : २६
वाणभट्ट : ६४
वालंगंगाधर तिलक, लोकमान्य :
२९टि०
विम्ब : २६, ३४
विम्ब-ग्रहण : २५, २५टि०, ३१, ३५,
९७, १०८, ११०, ११३
विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव : १०७, १३१
बिहार : ९६
बिहारीलाल, कविवर : ३९, ४०, ५६,
८३, ११२
बेकन : २६

वेनेडेटो क्रोचे : २६टि०, ३४टि०,
३५टि०, ४२टि०

भ्रान्तिमान : १२

म

ब्रह्मा : ११९

मधुसूदन दत्त, माइकेल : ७०

ब्रह्मानन्द-सहोदर : ७

मनोविज्ञान : ७, ६३, ८८, ९१,

ब्रह्मास्वादन : ७

११५, १३१

ब्रेडले, ए० सी० : ५०, ५०टि०, ६३

मम्मट, आचार्य : २, ९, ११, १२,

२०, ९०

भ

भगवान् रामचन्द्र : ४०

मरीचि : ८६

‘भगनावरण चित्’ : ७

महाभारत : ४६, ५५, ६४, ६९, ८३

भट्टनायक : ६, १६

महाभारतकार : ७६

भट्ट लोल्लट : ६

महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य :

९६टि०

भट्टि : ११

भरत, आचार्य : १, ३, ४, ५, ६, ८,

महिम भट्ट : २१, २२

९, ११

मारवाड़ : ९६

भरत-काव्यशास्त्र : २

मिल्टन, महाकवि : ७०, ७१टि०, ७७

भवभूति : ५०, ७३टि०, ८६

मूर्त्त-विधान : २५, १२४, १२५, १२६

भानुदत्त : २

मेघदूत : १०८

भामह : २, ४, ५, ९, १०, ११, १३,

मेघनाद : ६९, ७०

१८, २१

मेरु पर्वत : ९२, ९३

भारतवर्ष : ४८

मैथिलीशरण गुप्त : ९४, १३८, १४४

‘भारती-भूषण’ : ९६टि०

म्रियमाण-बोध : २७

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र : ३७टि०

य

भाव : ३, ५९, ६०, ७०, ७५, ७६,

यथार्थवाद : ४३

९०, ९१

यमक : ११

भाविक अलंकार : ८९, ९४

युक्ति-अलंकार : ९४

भाविका : १०

युधिष्ठिर : ७६

भीम : ७५, ७६

यूरोप : ५७, ५९, ६०, ६८

भुक्तिवाद : ६

यूरोपीय काव्य : ११९

भोज : २

योग-समाधि : २८टि०

भ्रमालंकार : ९१

र

भ्रान्ति : ८९

‘रघुवंश’ : ५०, ७३टि०

रति : ४७, ७३

रवीन्द्रनाथ ठाकुर, कवीन्द्र : ४८, ४९,
४९टि०, ५०, ५०टि०, ६४टि०,
६५टि०, १४७

रस : २, ३, ४, ७, ८, १९, २०, २१

रसगंगाधर : २

रस-दशा : ७३, ७६

रस-ध्वनि : २१

रस-निष्पत्ति : ६

रस-परिपाक : ४६, ७५, ८१

रस-भंग : ८३, १४८

'रस-मंजरी' : २

रसवत् अलंकार : ४

'रस-वाटिका' : ५८

रसवाद : ७२

रस-विरोध : ८३

रस-संस्कार : ७

रस-सिद्धान्त : ३, १८, ५६

रस-हानि : ८३

रसानुभूति : ३, ८, २६, ३५, ४६,

६६, ६८, ७०, ७१, ७२,

७५, ७६, ७७, ७८, ८१,

८२, ८३, ८५, ८७, १११

रसाभास : ८३, १४८

रसास्वादन : ७, ८

रहस्यवाद : १२६, १४३, १४५

रागात्मिका वृत्ति : ६०, ६१

राजशेखर : २

राजस्थान : ५४

राम : ५८, ६५, ६८, ७४, ७७, ८६,

९१, ९५, १०७

रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य : ३६, ३६टि०;

५७, ५७टि०, ५८,

५८टि०, ५९, ६०,

६०टि०, ६७टि०, ८४,

८४टि०, १२५टि०

'रामचरितमानस' : ११५, १४६,

१४७

रामायण : ४६, ५५, ६४, ६९, ७०,

७७, ८३

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' : १३५

रावण : ४६, ७०, ७७

रिचर्ड्स, आई० ए० : ५०, ५१टि०

रीति : २, ५, १३, १४

रीतिवाद : १३, १४

रुद्रट : २, ५, १०, १४

रुय्यक : २, ११, १२

रूपक : १३६

रूपकातिशयोक्ति अलंकार : १०७

रूपकालंकार : ८, १२

रोम : ७१

रोहिताश्व : ८४

ल

लक्षण-लक्षणा : १३७

लक्षणा : १२४, १२६, १४२

लक्षणाभूला ध्वनि : १७, २०

लक्ष्मण, रामानुज : ६९

लौक : २६, २६टि०

लास्की, प्रो० एन० ओ० : ३८टि०

'लेवियाथन' (Leuviathan, Pt. I) :

२७टि०

लोकातिक्रान्तगोचरता : १०, १८

व

वक्रोक्ति : १, २, ४, ८, १०, १८;
१९, २०, २१, ८९, ९५

वक्रोक्तिजीविकार : १८, २०

‘वक्रोक्तिजीवितम्’ : २

वक्रोक्तिवाद : ६०, ६१

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय : १८

वाग्वैचित्र्य : ५९, ६०

वामन : २, ४, ५, ८, ९, १०, १३, १४

वाल्मीकि, महाकवि : ५५, ५८, ६५,

१०९, ११०

वाल्मीकीय रामायण : ६९

विकासवाद : ४३

विदर्भ : १४

विदूषक : ७४

‘विधवा’ : ११३

विप्रलम्भ शृंगार : ७५

विभाव : ३, ५, ७, ५९, ६०, ७१,

७५, ७६

‘विमल’, पं० जगदीश झा : १२८

‘वियोगी’, पं० मोहनलाल महतो :

१४०

विवृतोक्ति : ९५

विशेषण-विपर्यय-अलंकार : १३६

विश्वनाथ, कविराज : २, १६, ९०

विश्वनाथ प्रसाद : १३८

विश्वातीत ज्ञान : २८८

‘विषाद’ : ११४

विष्णु : ११९

‘वीचि-विजास’ : १०६

वीप्सा : ८९

वीप्सालंकार : ९२

वैदान्तिक मोक्ष : ७

वैदिक साहित्य : ११८

वैशेषिक दर्शन : ९२

‘व्यक्ति-विवेक’ : २१, २२

व्यंग्य-रूपक : १०४

व्यतिरेक : १२

व्यभिचारी भाव : ३

व्याजोक्ति अलंकार : ९४, ९८

व्यास, महामुनि : २, ५५

श

शंकुक : ६

शकुनि : ७०, ७६

शकुन्तला : ३२, ४६, ५२, ७३, ७४,

८६, ११४

शकुन्तला-प्रत्याख्यान : ७३

शवरी : ८२

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि : १७, १०६

शब्दालंकार : ९३, ९५

शम : ७७, ८०

शान्तरस : ५

शिव : ११९

शिवनन्दन सहाय : ३७८

शूर्पणखा : ८२

शेक्सपियर : ६५, ७८, ७९

शैण्ड, मनोवैज्ञानिक : ७०

शैतान : ७०, ७७, १४७

शैव्या, रानी : ८४

श्रीकृष्ण : ७६

श्रीहर्ष : ६४

श्लिष्ट विशेषण : ९८

श्लेष : १०

श्लेष-हेतुक : ९८

स

संकर : ९३

संचारी भाव : ३, ५

संलक्ष्य क्रम-व्यंग्य : १७, १०६

संवेदन : २६, २७, ३५, ४१, ४२,

५५, ५६

संवेदनावाद : २६

संसृष्टि : ९३

सन्ताली भाषा : ११७

सन्देह, अलंकार : १२

समासोक्ति : १३, ९५, ९८

सम्भव प्रमाणालंकार : ९२

'सरस्वती-कण्ठाभरण' : २

सर्वदमन : ८६

सहजानुभूति : २६, २७, ३०, ३१,

३२, ३३, ३४, ३५,

३७, ३८, ३९, ४१,

४२, ४३, ५२, ५३,

५७, ५८, ५९, ६९,

११५

सहोक्ति : ८९

'साकेत' : १४४

सादृश्यमात्र अलंकार : ९८

सादृश्य-विधान : ९९

साधर्म्य-विवक्षा : ९८, ९९

साधारणीकरण : ६७, ६८, ६९,

७२, ८४

'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद' : ३६टि०, ६७टि०, ८४टि०

साध्यवसान रूपक : १२४

सारूप्य-निबन्धना-भेद : ९८

'साहित्य' (साहित्य और सौन्दर्य) :

६४टि०, ६५टि०

साहित्य-दर्पण : २

'साहित्य : साहित्य की सामग्री' :

४९टि०, ५०टि०

'सिद्धार्थ' : १४४

सियारामशरण गुप्त : १३९

सीता : ७३, ८६, ९०, ९१, ९५, १०७

सुमित्रानन्दन पन्त, कविवर :

५४, १००, १०२, १०३,

१०४, १०६, १०८, ११५,

१२२, १२३, १३०, १३२,

१३३, १३४, १३७, १३८,

१४०, १४१

'सुहृद', कपिलदेव नारायण सिंह : १२९

सूर/सूरदास : ६५, ८३, १०७, १०८

स्थायी भाव : ५, ७

स्पिनोजा : ६४

स्फोट-सिद्धान्त : १५

स्मरण/स्मरणालंकार : १२, ९१

स्वभावोक्ति : १०, १९, २०, ६१, ८९

स्वभावोक्तिवाद : २०

स्वयंप्रकाश ज्ञान : ३६

ह

हंसपादिका : ७४

हरिगीतिका छन्द : ९५

हरिश्चन्द्र, राजा : ८४

'हाउस इन ए लाइब्रेरी' : ४१टि०

हॉन्स : २७टि०

१६०

काव्य में अभिव्यञ्जनाविध

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, इन्दौर :

हेमचन्द्र : ९

१२५ टि०

हैवलॉक इलिस : ३७ टि०

हिमालय : ६८

ह्यूम : ८०

हिस्सेबाण्ट : ३७ टि०



आशुतोष अबस्थी

अध्यक्ष

श्री नारायणेश्वर वेद वेदाङ्ग समिति (उ.प्र.)





